देखी सुनी

वर्ष 2011, अंक 16

देश में औरत अगर बेआबरू, नाशाद है
दिल पे रख कर हाथ कहिये, देश क्या आजाद है

प्रिय साथियों !

एक बार फिर देखी सुनी के ज़रिए हमारा प्रयास है कि हम आप तक कुछ जरूरी सामाजिक मुद्दो पर जानकारी पहुचाएं। हमें आशा है यह अंक आपके कार्यक्षेत्र में सहयोगी सामग्री की भूमिका निभयेगा। इस अंक में शामिल है विभाजित विकास, महिलाओं पर होने वाली बलात्कार, यौन हिंसा व घरेलू हिंसा का सामाजिक व कानूनी पक्ष, महिला सुरक्षा व आश्रय से जुड़े सवाल, मानवाधिकार के लिये इरोम शर्मिला व बिनायक सेन का संघर्ष, तथा सूचना के अधिकार के पांच साल।

कृप्या अपनी प्रतिक्रियायें अवश्य भेजे व हमें हमारे प्रयास को बेहतर बनाने में सहयोग दे।

नीतू रौतेला
जागोरी संदर्भ समूह

इन खेलों की कीमत किसने चुकाई

विष्णु नागर

राष्ट्रमंडल खेलों के आखिरकार सफलतापूर्वक संपन्न हो जाने से केंद्र और दिल्ली सरकार अत्यंत प्रसन्न हैं। भयानक भ्रष्टाचार को लेकर फिलहाल कुछ नकली नाराजगी-सी जरूर जताई जा रही है, लेकिन ये सरकार की फौरी और दिखावटी मुद्राएं हैं। इस बीच लीपापोती जारी है। आखिर में होगा यह कि मुख्य दोषियों को बख्श कर कुछ सहायकों आदि पर कार्रवाई करके इस मामले को रफा-दफा कर दिया जाएगा, जैसा कि हर ऐसे कांड के साथ हमेशा होता रहा है। प्रतीक्षा सिर्फ इस बात की है कि जैसे-तैसे यह कांड लोगों की स्मृतियों से गायब हो या धुंधला पड़ जाए, ताकि सरकार अपनी इस नखरीली क्रोधमुद्रा से जल्दी से जल्दी मुक्ति पा सके।

लेकिन भ्रष्टाचार से भी भयानक एक और बड़ा खेल शासक वर्ग ने इस आयोजन के बहाने खेला है। जागरूक प्रेस, जनसंगठनों और अदालती हस्तक्षेप के बावजूद इन खेलों के दौरान गरीब-वंचित वर्गों के हकों के बारे में कोई भी बात न सुनने की जो जिद हमारे शासक वर्ग ने ठान कर दिखाई है, वह अभूतपूर्व है। यह अभूतपूर्व इसलिए भी है कि बिहार, छत्तीसगढ़, ओडीशा आदि देश के तमाम राज्यों में इस तरह के प्रयोगों के सफल या लगभग सफल होने के बाद यह प्रयोग अंतिम तौर पर देश की राजधानी दिल्ली में भी किया गया, वह भी राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय चौकसी के बीच।

इसे एक नए किस्म का अघोषित आपातकाल कह सकते हैं। पिछले आपातकाल के विपरीत इस बार अखबारों-टीवी चैनलों, नागरिक समाज पर कोई घोषित प्रतिबंध नहीं था, सबको सब कहने की छूट थी, न्याय के दरवाजे खटखटाने की छूट भी थी, अदालतों को सरकार को नाराज करने वाले आदेश देने और फटकार लगाने की छूट भी थी। प्रकट रूप से लोकतंत्र का पूरा तामझाम था, मगर लोकतंत्र ही नहीं था यानी देश की बहुसंख्यक जनता के अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं था।

इस बीच शासक वर्ग ने गरीब वर्ग को धता बताने की एकमुश्त छूट ले रखी थी, क्योंकि उसे इस आयोजन को सफल बना कर दुनिया में भारत का नाम तथाकथित रूप से रोशन करना था, दिल्ली की सुरक्षा का पक्का इंतजाम करना और इस शहर को विश्वस्तरीय भी बनाना था। उसने खेलों के रास्ते में कोई बाधा नहीं आने दी, चाहे इससे गरीब वर्गों के मानवाधिकारों का किसी भी स्तर पर किसी भी किस्म का हनन हो, इस देश के किसी भी कानून का उल्लंघन हो।

पहली बार इतने व्यापक पैमाने पर और इतने खुले ढंग से यह 'प्रयोग' देश की राजधानी में किया गया और कह सकते हैं कि यह सफल रहा। इस खेल को सफल बनाने की सारी कीमत केवल दिल्ली के गरीबों ने चुकाई, जिन्हें इन खेलों से कोई मतलब नहीं था, जबकि इसके सारे फायदे दिल्ली के शासकों, खेल आयोजकों ने उठाए। इस बीच गरीबों ने अपने झोपड़ों को बर्बाद होते देखा और कोई इन्हें बचाने नहीं आया। उनके काम-धंधों को चौपट किया गया और इसकी सिर्फ खबर बनी और कुछ नहीं हुआ। जिन सत्तर हजार से भी अधिक मजदूरों ने अपना शोषण करा कर, इनकी गुलामी करके, अपमान झेल कर भी इस शहर को दिन-रात सुंदर बनाने में मदद की, वही अंततः इतने असुंदर मान लिए गए कि उन्हें यह शहर छोड़ जाने को बाध्य किया गया। उनसे जबर्दस्ती भी की गई।

राष्ट्रमंडल खेलों के नाम पर जबर्दस्ती झुग्गी-झोपड़ियां गिरा कर दो से ढाई लाख गरीबों को बेघर किया गया, मगर एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है कि इस बारे में की गई एक भी अपील, अनुरोध, विरोध के स्वर को सुना, दर्ज किया गया? जहां कुछ लोगों को वैकल्पिक जगह दी गई, वहां के हालात क्या हैं, वहां इंसान रह सकता है या नहीं, उनके काम की जगह से यह जगह कितनी दूर है, इसे देखने, इस पर सोचने के लिए कोई तैयार नहीं था।

हां, मजबूरी में इस बीच सिर्फ इतना किया गया कि जब 22 दिसंबर, 2009 की कड़कड़ाती ठंड में भारतीय जनता पार्टी शासित दिल्ली नगर निगम ने दिल्ली सरकार के राजस्व विभाग द्वारा बेघरों के लिए बनाए गए पूसा रोड स्थित अस्थायी रैनबसेरे को गैरकानूनी बता कर, उसमें रहने वालों को गैरकानूनी कब्जा करने वाला और राष्ट्रमंडल खेलों के लिए इस जगह के सौंदर्यीकरण की जरूरत बता कर तोड़ा तो दिल्ली उच्च न्यायालय ने खुद इसका नोटिस लेकर आदेश दिया कि इन्हें फिर से वहीं बसाया जाए। फिर भी ढाई सौ में से सिर्फ पचास लोगों को बसाया गया और दो सौ लोगों को ठंड में मरने के लिए छोड़ दिया गया। फिर से अदालत को इनके लिए हस्तक्षेप करना पड़ा, तब इन्हें पनाह मिली।

इस घटना के बाद भी गरीबों के खिलाफ कार्रवाई का सिलसिला नहीं रुका। इसके बाद नया बाजार, पुल मिठाई पर चार सौ लोगों की झुग्गियां तोड़ी गईं, उनका सामान जलाया गया, उनकी औरतों-बच्चों तक को पीटा गया। फिर भी कुछ नहीं हुआ। पटरियों पर सामान बेचने वाले करीब तीन लाख लोगों का काम सुरक्षा के नाम पर बंद करवा दिया गया और इसके विरुद्ध बिल्कुल नहीं सुना गया। किसी ने इसकी परवाह नहीं की कि उन पर लादी गई इस बेरोजगारी के उन दिनों में उनका क्या हुआ, उन्होंने कैसे, किस तरह अपना पेट पाला। किसी ने नहीं पूछा कि जिन्हें इस तरह सड़क पर ले आया गया था, उनके परिवारों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी आखिर किसी की थी भी या नहीं थी? क्या सरकार की नहीं थी?

आज तक किसी ने नहीं पूछा कि ये गुब्बारे बेचने वाले, हाथ गाड़ी चलाने वाले, कूड़ा बीनने वाले, सड़क पर सस्ता खाना बेचने, प्रेस करने वाले किस तरह राष्ट्रमंडल खेलों के लिए खतरनाक हो गए थे।

आज तक किसी ने नहीं पूछा कि ये गुब्बारे बेचने वाले, हाथ गाड़ी चलाने वाले, कूड़ा बीनने वाले, सड़क पर सस्ता खाना बेचने, प्रेस करने वाले किस तरह राष्ट्रमंडल खेलों के लिए खतरनाक हो गए थे। उन दिनों में जब इन्हें काम नहीं करने दिया गया, ये कहां गए थे, कैसे बीते थे उनके दिन और क्या पुलिस और निगम ने उन्हें फिर से उसी तरह बसने दिया है?

उन दिनों में जब इन्हें काम नहीं करने दिया गया, ये कहां गए थे, कैसे बीते थे उनके दिन और क्या पुलिस और निगम ने उन्हें फिर से उसी तरह बसने दिया है? खेलों के दौरान हफ्तेवार लगने वाले अनेक बाजार बंद करवा दिए गए थे, जिनमें वे छोटे दुकानदार अपना सामान बेचते हैं, जो रोज खाते-कमाते हैं। क्या उनकी खबर किसी ने ली?

भिखारियों को सारे कानूनों और अदालती निर्देशों के बावजूद राष्ट्रमंडल खेलों के मार्ग से फना कर जेलों में डाल दिया गया, क्योंकि उनके होने से देश की तथाकथित शान को बट्टा लग रहा था। अगर भीख मांगने वालों के कारण देश की शान को बट्टा लगता है तो यह अब क्यों नहीं लग रहा है और खेलों से पहले कभी क्यों नहीं लगा था और ये भीख न मांगें, इसके लिए क्या सकारात्मक उपाय किए गए? इससे साफ है कि हमारे शासक वर्ग को विदेशी अमीरों के सामने अपनी झूठी शान बघारना आता है, जबकि वे विदेशी भी इस जन्नत की हकीकत को अच्छी तरह जानते हैं। अगर दुनिया वाकई विश्व ग्राम बन चुकी है- जैसा कि प्रचार है- तो फिर किसी से क्या छुपा है, जिसे इस भोंडे तरीके से छुपाने की भ्रष्ट कोशिशें की गईं?

इस दौरान मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी तक नहीं दी गई। दिल्ली में अकुशल मजदूर की न्यूनतम मजदूरी दो सौ तीन रुपए तय है, इतनी भी दिन-रात मेहनत करने वालों को नहीं दी गई, जबकि ये विभिन्न सरकारी एजेंसियों के लिए काम कर रहे थे। उन्हें न्यूनतम से भी सौ रुपए कम मजदूरी या कई जगह हफ्तावार खर्चा-पानी के नाम पर और भी कम रुपए दिए गए।

ये बातें खेल शुरू होने के करीब एक साल पहले से मीडिया में सामने आ रही थीं। जनवरी, 2009 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने पूर्व कूटनीतिक अरुंधती घोष की अध्यक्षता में पांच सदस्यीय समिति भी इस मामले की जांच के लिए गठित की थी। मगर इसने जो चिंताएं प्रकट कीं, जो रिपोर्ट दी, उसका नोटिस लिया गया, ऐसा नहीं लगता।

उस समिति ने यहां तक टिप्पणी की थी कि कोई अपने पर तब तक गर्व करने के योग्य नहीं हो सकता, जब तक कि वह अपने लिए मेहनत करने वालों की इज्जत नहीं करता। लेकिन इससे सरकार को कोई फर्क नहीं पड़ा। और ये वही मजदूर थे, जिन्हें जरूरत पड़ने पर ठेकेदारों ने नींद से जगा कर भी काम करवाया था, जिन्हें मनुष्य के रहने लायक जगह भी नहीं दी गई थी, जिनकी प्लास्टिक शीट की झोपड़ियों में इतनी भी जगह नहीं थी कि एक खाट तक ठीक से बिछ सके, जिनकी झुग्गियों में रोशनी और हवा आने के लिए कोई जगह नहीं छोड़ी गई थी, जिन्होंने बदबू, सीलन और उमस में, उनींदेपन में अपने ये दिन काटे, जिन्हें दिल्ली में बाढ़ आने पर भी दो-चार दिन से ज्यादा सड़क पर पनाह नहीं लेने दी गई, जिनके लिए बनाए गए शौचालयों की हालत अकल्पनीय रूप से भयानक थी।

इन हालात में रह कर और पेट भरने लायक पैसा भी न पाकर जो मजदूर डटे रहे, उन्हें काम खत्म होने के बाद इसी शहर से दूध से मक्खी की तरह निकाल बाहर फेंका गया। वे अचानक खतरनाक-शर्मनाक घोषित हो चुके थे। ऐसी निर्ममता और अमानवीयता के लिए ही क्या हमने यह लोकतांत्रिक व्यवस्था चुनी थी? इसी तरह देश के साधारण जनों का अपमान करने के लिए?

इस तरह संविधान में प्रदत्त जीने और सम्मान के साथ जीविका कमाने के उनके अधिकारों का हनन किया गया, मजदूरी संबंधी कानूनों की अवहेलना की गई, तमाम मान्य अंतरराष्ट्रीय कानूनों की धज्जियां उड़ाई गईं और फिर भी दिल्ली की मुख्यमंत्री बड़ी बहादुरी से कहती रहीं कि उनकी जानकारी के अनुसार मानवाधिकारों का कहीं कोई उल्लंघन नहीं हुआ है, कम से कम उनके नोटिस में तो बिल्कुल नहीं आया है।

इसके अलावा देखें तो बेजिंग ओलंपिक की इससे कहीं ज्यादा बड़ी तैयारियों के दौरान वहां कुल तीन मजदूर मरे थे, जबकि हमारे यहां सरकार के आंकड़ों के मुताबिक सिर्फ मार्च, 2010 तक तिरालीस मजदूर मर चुके थे और अगर सरकार की मानें तो सितंबर तक के छह महीनों में केवल तीन मजदूर मरे। मरने वाले कुल मजदूरों का आंकड़ा दिल्ली उच्च न्यायालय को पैंतालीस बताया गया है, जबकि सूचना के अधिकार के तहत जब दिल्ली सरकार के श्रम विभाग से इस बीच कुल मजदूरों की मृत्यु, उनके घायल होने और उन्हें दिए गए मुआवजे के बारे में पूछा गया तो उसने ये आंकड़े उपलब्ध करवाने में असमर्थता प्रकट की, क्योंकि मजदूरों का मरना-घायल होना, उनके मुआवजे आदि के सवाल इस सरकार के लिए इतने मामूली हैं कि अब श्रम विभाग भी ऐसी सूचना रखना जरूरी नहीं समझता।

बहरहाल, दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन ने उच्च न्यायालय को शपथ-पत्र देकर मेट्रो के पहले और दूसरे चरण में मरने वालों की संख्या एक सौ नौ बताई है, यानी दिल्ली सरकार के आंकड़ों पर विश्वास करें- जो अपनी अविश्वसनीयता का स्वयं प्रमाण हैं- तो भी यहां एक सौ चौवन मजदूर मरे हैं, बेजिंग ओलंपिक से इक्यावन गुना से भी ज्यादा। उच्च न्यायालय की समिति ने इन मजदूरों के मृत्यु के कारणों की जांच और मानवाधिकारों का हनन करने वालों को जेल भेजने और उनके विरुद्ध जुर्माना लगाने की सिफारिश की थी, कुछ हुआ हो, इसकी कोई जानकारी सार्वजनिक रूप से उपलब्ध नहीं है। घायलों की संख्या का पता नहीं, मुआवजे की राशि का भी पता नहीं। हम किस तरह के और किसके जनतंत्र में रह रहे हैं, इसका प्रमाण सामने है।

विकास

स्लम बस्ती में रहने वाले लागों के लिए बनेंगे मल्टी स्टोरी फ्लैट

कठपुतली कालोनी में किया गया 5500 फ्लैट के निर्माण का शिलान्यास

हर्ष मंदर

लेखक भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी रहे हैं।

बेघरों में बड़ी संख्या उन लोगों की है, जिनकी झुग्गियां सरकार ने गिरवा दीं और उनके लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था भी नहीं की। ऐसे ढाई सौ परिवार हैं, जो निजामुद्दीन के सार्वजनिक बगीचे में सोते हैं।

इस चमक-दमक में उन्हें भुला दिया गया, जिनकी कड़ी मेहनत से ही इस शहर की सूरत बदल पाई है। यह 'नया' शहर हजारों मजदूरों के कंधों पर बसा है।

दुष्कर्म मामलों के लिए विशेष कोर्ट पर विचार

महिलाओं की सुरक्षा पर शीला दीक्षित ने बुलाई बैठक

नई दिल्ली। धौला कुआं गैंग रेप-2 ने एक बार फिर महिलाओं की सुरक्षा और दुष्कर्म के मामलों में शीघ्र न्याय की आवश्यकता बढ़ा दी है। इसी को ध्यान में रखकर दिल्ली सरकार दुष्कर्म के मामलों में विशेष अदालत के गठन पर विचार कर रही है। हालांकि, इस मुद्दे पर अंतिम निर्णय दिल्ली हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश को लेना है। मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने राजधानी में महिलाओं की सुरक्षा पुख्ता बनाने के लिए शनिवार को अहम बैठक ली। इसमें बाल एवं महिला कल्याण मंत्री प्रो. किरण वालिया, दिल्ली महिला आयोग की अध्यक्ष बरखा सिंह, प्रधान सचिव गृह, दिल्ली पुलिस संयुक्त आयुक्त अमूल्य पटनायक और नार्थ ईस्ट से जुड़े एक संगठन की प्रतिनिधि भी मौजूद थीं। नार्थ ईस्ट हेल्प लाइन के प्रतिनिधियों ने ही दुष्कर्म के मामलों में विशेष अदालत के गठन का सुझाव दिया है।

मुख्यमंत्री ने दिल्ली के श्रम आयुक्त को निर्देश दिए हैं कि कामकाजी महिलाओं को देर रात उनके घर तक सुरक्षित पहुंचाने के आदेश फिर से जारी किए जाएं। इसके अनुसार ठंड में शाम सात बजे और गर्मियों में रात आठ बजे के बाद महिलाओं को उनके घर तक ड्रॉप करना जरूरी है। सभी बीपीओ, मीडिया दफ्तरों और अस्पतालों से इन निर्देशों को सख्ती से पालन करने को कहा जा रहा है। मुख्यमंत्री ने अपने आवास पर हुई बैठक के बाद बताया कि दुष्कर्म के मामलों में विशेष अदालत के सुझाव पर भी विचार किया जाएगा। बैठक में महिलाओं की सुरक्षा के उपायों और सुझावों पर चर्चा की गई। सरकार डीटीसी बसों पर महिलाओं की मदद के लिए सभी हेल्पलाइन नंबर प्रचारित करेगी। बैठक में दिल्ली पुलिस की ओर से कहा गया कि दिक्कत के वक्त नार्थ-ईस्ट की महिलाओं द्वारा की गई कॉल के दौरान भाषा की परेशानी दूर करने के लिए हेल्पलाइन पर सुपरवाइजर तैनात किए जाएंगे। दिल्ली महिला आयोग ने जानकारी दी कि दुष्कर्म मामलों के लिए 24 घंटे की हेल्पलाइन सेवा शुरू की है। बैठक में फैसला लिया गया कि एमसीडी उन इलाकों के सभी संकेतक सही करेगी या स्ट्रीट लाइन जलेंगी जहां बड़ी संख्या में नार्थ-ईस्ट की महिलाएं रहती हैं। वहीं आरडब्ल्यूए और थानों से कहा जाएगा कि देर रात दफ्तर से घर आने वाली महिलाओं का पहचान पत्र देखकर कालोनी में आने दें। वहीं महिलाओं से बदसलूकी जैसे मामलों की प्रतिदिन सुनवाई हो और फास्ट ट्रैक अदालतें हों। ब्यूरो

- कामकाजी महिलाओं को देर रात घर तक पहुंचाने के आदेश
- भाषा की परेशानी दूर करने को हेल्पलाइन पर सुपरवाइजर तैनात होंगे

हेल्पलाइन नंबर

दिल्ली पुलिस : 100, 1090, 1091 और 23317004
महिला आयोग : 23370557 व 23379181
टोल फ्री नंबर : 1800-119292

उसने शरीर रौंदा, कानून सम्मान कुचलता है

एक अवयस्क के साथ हुए यौन अत्याचार के मामले में दिल्ली की अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश सुश्री कामिनी लाऊ द्वारा हाल ही में जारी निर्देशों के दूरगामी परिणाम होने की बात अभी से कही जा रही है। अदालत ने इस सिलसिले में राष्ट्रीय महिला आयोग, स्वास्थ्य निदेशालय तथा दिल्ली सरकार के मुख्य सचिव को भी 'उचित कार्रवाई करने' का निर्देश दिया है।

सवाल है कि आखिर अतिरिक्त सत्र न्यायालय के सामने किस किस्म का मुकदमा उपस्थित हुआ था जिसके चलते जज को कहना पड़ा कि यौन अत्याचार को लेकर पहले से चली आ रही चिकित्सा सम्बंधी और कानूनी प्रणालियां अब अप्रासंगिक हो चुकी हैं, जिन्हें तत्काल प्रभाव से समाप्त कर देना चाहिए और नई प्रणालियों का निर्माण किया जाना चाहिए।

यह मामला था एक अवयस्क बच्ची से हुए यौन अत्याचार का जिसकी चिकित्सा परीक्षण सम्बंधी रिपोर्टों में झांकते हुए न्यायाधीश यह देख कर सिहर उठीं कि उस बच्ची को भी 'पीवी टेस्ट' (अर्थात 'पर वजायना टेस्ट' जिसे अंगुली परीक्षण भी कहा जाता है) से गुजरना पड़ा था जो डॉक्टरों द्वारा यह पता करने के लिए की जाती है कि पीड़िता 'सहवास की आदी' थी या नहीं। यौन अत्याचार के कुछ अन्य मामलों की फाइलों की जांच करने पर उन्हें यह भी मालूम हुआ कि इस परीक्षण को एक रुटीन के तौर पर अंजाम दिया जाता है।

एक तरफ उच्च अदालतों द्वारा बलात्कार सम्बंधी मुकदमों में पीड़िता की 'गरिमा की रक्षा' करने की बात की जाती है और दूसरी तरफ पीवी टेस्ट का प्रचलन; इस विरोधाभास को देखते हुए अदालत को कहना पड़ा कि यह परीक्षण जांच के फोकस में अभियुक्त के बजाय पीड़िता को ला देता है। अदालत के मुताबिक जब बलात्कार पीड़िता के चरित्र सम्बंधी सबूतों का मसला बहुत पहले खारिज हो चुका है, तब लोगों की निजता के घोर उल्लंघन करने वाले ऐसे परीक्षण अब भी क्यों किये जा रहे हैं?

उम्मीद की जानी चाहिए कि पीड़िता को अपमानित करने वाले ऐसे परीक्षणों से हमें जल्द से जल्द मुक्ति मिलेगी।

मुद्दा

सुभाष गाताडे

वैसे अभी ज्यादा दिन नहीं बीता जब 'ह्यूमन राइट्स वॉच' नामक संगठन द्वारा तैयार ताजा रिपोर्ट, 'डिग्निटी आन ट्रायल' जारी हुई थी, जो यौन अत्याचार पीड़ितों के परीक्षण में संतुलित पैमाने बनाने की जरूरत पर केंद्रित थी। यौन अत्याचार अन्वेषण के तरीकों में आज भी मौजूद मध्ययुगीन पैमानों को उजागर करती प्रस्तुत रिपोर्ट इस विचलित करने वाले तथ्य को पेश कर रही थी कि किस तरह आज भी अदालती फैसलों या उसकी पूर्वपीठिका बनती अदालती कार्रवाइयों में पीड़िता के चरित्र व चाल-चलन या उसके यौनिक अनुभव का मसला परोक्ष/अपरोक्ष रूप से विद्यमान है, जिसको लेकर तीस साल पहले ही लम्बे संघर्ष के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने दिशानिर्देश दिये हैं।

आशा (बदला हुआ नाम) जिसे भले ही फिलवक्त इस बात का सुकून हो कि अपने अत्याचारी बॉस को वह जेल भेजवाने में कामयाब रही, मगर वह आज भी उस प्रसंग को याद करके सिहर उठती है कि अस्पताल में पुरुष डॉक्टर के हाथों उसे किस तरह नए सिरे से अपमान/प्रताड़ना के पलों से गुजरना पड़ा था। उसके इस कथन पर कि 'क्यों नहीं लेडी डॉक्टर को बुलाया जाता' उसके साथ चल रहे पुलिसकर्मी ने पथरीले चेहरे से जवाब दिया था कि उस अस्पताल में एक भी लेडी डॉक्टर नहीं है और अगर लेडी डॉक्टर से जांच करवानी हो तो सौ किलोमीटर दूर के अस्पताल में जाना पड़ेगा।

दिल्ली एवं मुम्बई में 50 के करीब कार्यकर्ताओं, पीड़िताओं, माता-पिताओं, वकीलों, न्यायविदों, डॉक्टरों से लेकर दंड विज्ञान के विशेषज्ञों से लिये गए साक्षात्कारों के आधार पर तथा 18 राज्यों में सामने आये उच्च अदालत के 153 फैसलों का अध्ययन करके-जिसमें अत्याचार-अन्वेषण की मध्ययुगीन रीति का जिक्र है- प्रस्तुत रिपोर्ट को तैयार किया गया है। यौन अत्याचार की पीड़िताओं को अदालती सहायता देने से लेकर अन्य किस्म के जरूरी सहयोग/समर्थन देने में सक्रिय रही मुम्बई की कार्यकर्ता एवं नारीवादी लेखिका फ्लेविया एग्नेस बताती हैं कि पुरानी पद्धति का आज भी बने रहना एक तरह से पुलिस, मेडिकल पेशेवर और अदालतों पर हावी पितृसत्तात्मक रुख को ही उजागर करता है, जिस वातावरण में एक तरह से पीड़िता को ही अपराधी साबित करने की तमाम सम्भावनाएं दिखती हैं। हाल ही में महाराष्ट्र एवं दिल्ली सरकार ने पीड़िताओं की जांच में इस परीक्षण की सिफारिश की है।

एक तरफ सर्वोच्च न्यायालय ने इस परीक्षण को 'काल्पनिक और हठधर्मितापूर्ण' बताया है और यह भी कहा है कि पीड़िता के व्यक्तिगत इतिहास का यौन अत्याचार सम्बंधी मुकदमे में सहमति के प्रश्न के साथ कोई ताल्लुक नहीं है, जबकि इसको किनारे रखते हुए आज भी अदालती कार्रवाइयों में पीड़िता के यौनिक अनुभव आदि की जानकारी मांगी जाती है। वर्ष 2003 में एक संशोधन के जरिये इस परीक्षण को खारिज भी किया गया है, इसके बावजूद वह आज भी चल रहा है। इतना ही नहीं चिकित्सा दंड विधान सम्बंधी कुछ पाठयपुस्तकों में भी उन्हें शामिल किया गया है।

दुष्कर्म मामलों में मेडिकल जांच पर अदालत की टिप्पणी

'फिंगर टेस्ट' अप्रासंगिक

बाहरी दिल्ली (एसएनबी)। फिंगर टेस्ट दुष्कर्म पीड़िता की गोपनीयता और संवैधानिक अधिकार का उल्लंघन है। इस जांच से बचने के लिए संवेदनशील होने की जरूरत है। जांच को अप्रासंगिक मानते हुए खासकर बच्चियों, नाबालिग लड़कियों और विवाहित महिलाओं के मामले में इस जांच से बचना चाहिए। यह टिप्पणी जिला अदालत रोहिणी की अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश डा. कामिनी लॉ ने की।

न्यायाधीश ने कहा कि फिंगर टेस्ट यौन हिंसा मामले में अप्रासंगिक है। यह गोपनीयता के मौलिक अधिकार और महत्वपूर्ण संवैधानिक अधिकार के विरुद्ध है। फिंगर टेस्ट यौन हिंसा के पीड़ितों पर नियमित रूप से किया जाता है। यह जांच इसलिए की जाती है ताकि यह पता चल सके कि पीड़िता यौन समागम की अभ्यस्त है या नहीं। सरकारी कार्रवाई किसी व्यक्ति विशेष के संवैधानिक अधिकार के हनन को चुनौती नहीं दे सकती। अदालत ने कहा कि सबसे चकित करने वाली बात है कि बच्चियों और नाबालिग लड़कियों पर यह जांच डॉक्टर करते हैं। जो पीड़िता के संवैधानिक अधिकार का उल्लंघन है।

अदालत ने इस जांच पर रोक लगाने के लिए विचार करने की जरूरत बताई

अदालत ने यह टिप्पणी महिलाओं पर अत्याचार के एक मामले की सुनवाई को दौरान की। अपने आदेश में कहा कि ऐसी जांच पीड़िता के लिए शर्मनाक है जबकि ऐसे मामलों की अदालती कार्यवाही में इसका कोई अभिप्राय नहीं है। अदालती कार्यवाही के दौरान यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि पीड़िता इस जांच की वजह से अपमान झेले।

अदालत ने अपना मत जाहिर करते हुए कहा कि दुष्कर्म के मामलों में मौजूदा अप्रासंगिक चिकित्सीय और कानूनी प्रकिया को रोके जाने पर विचार करने की जरूरत है। अदालत ने कहा कि जांच के जरिये डाक्टर यह पता करता है कि पीड़िता यौन संबंधों की आदी है या नहीं। यह भी किसी महिला के यौन जीवन की गोपनीयता के अधिकार का हनन है। जबकि अदालती कार्यवाही में इसका कोई मतलब नहीं है। इन मामलों में पीड़िता के चरित्र को प्रमाण नहीं माना जाता। ऐसे में यह जांच अप्रासंगिक है। अदालत ने कहा कि यदि पीड़िता अविवाहित है तो उसके योनिच्छद जांच की जाती है। गुप्तांग के आस पास खरोंच के निशान की जांच की जाती है। इससे आगे की जांच की जरूरत नहीं है।

महिलाएं कैसे जिएं सुरक्षित जीवन

महिलाओं को यौन हिंसा और उत्पीड़न से बचाने के लिए अपनी सरकारें और संयुक्त राष्ट्र विकास कोष बेशक नई-नई पहल कर रहे हैं, लेकिन सच यह है कि उनके खिलाफ न सिर्फ हिंसा जारी है, बल्कि पहले की तुलना में और भी अपराध बढ़े हैं। आलम यह है कि मुल्क की राजधानी दिल्ली भी महिलाओं के लिए सुरक्षित नहीं है। दिल्ली महिलाओं के मामले में अपराध, खासकर बलात्कार की राजधानी बनती जा रही है। हालिया वाकया 24 नवम्बर का है जब रात के समय कॉल सेंटर की ड्यूटी से घर लौट रही युवती को अगवा कर चलती गाड़ी में उसके साथ दुष्कर्म किया गया। इस घटना ने हमारी कानून व्यवस्था की पूरी पोल खोलकर रख दी। एक महीने के अंदर दिल्ली में यह दूसरी घटना है, जब कॉल सेंटर में नौकरी करने वाली किसी लड़की के साथ दुष्कर्म किया गया। यह दिल्ली सरकार के लिए वाकई शर्म और चिंता की बात है कि तमाम कानूनी प्रावधानों के बावजूद, शहर में महिलाएं असुरक्षित हैं।

पचीस नवम्बर का दिन पूरी दुनिया में महिलाओं के खिलाफ हिंसा उन्मूलन दिवस के रूप में मनाया जाता है। जाहिर है, यह दिवस हमारे देश में भी कई जगह महिलाओं के लिए सुरक्षित माहौल बनाने की शपथ के साथ संपन्न हुआ। इसके दो दिन पहले 22 नवम्बर को संयुक्त राष्ट्र विकास कोष यानी यूनीफेम की क्षेत्रीय कार्यक्रम निदेशक एएफ स्टैन हैमर ने दिल्ली में एलान किया कि सार्वजनिक जगहों पर महिलाओं के लिए सुरक्षित माहौल बनाने की संयुक्त राष्ट्र की पहल में चार विकासशील देशों के साथ भारत के दिल्ली शहर को भी शामिल कर लिया गया है। इस पहल का मकसद महिलाओं के लिए शहरी इलाके को सुरक्षित बनाने की रणनीति और माहौल तैयार करना है। लेकिन तमाम कानूनी प्रावधानों के बावजूद हाल की घटनाओं ने साबित कर दिया कि शहर में महिलाएं बिल्कुल असुरक्षित हैं। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि दिल्ली में हर

मुद्दा

जाहिद खान

रोज औसतन दो बलात्कार होते हैं। फिर भी न सरकार की नींद खुलती है और न पुलिस की। मीडिया के दबाव में पुलिस थोड़ी-बहुत कवायद करती है और उसके बाद फिर भूल जाती है। पर इस मामले में दिल्ली पुलिस को ही अकेले क्यों दोष दें। ऐसे मामलों में सारे मुल्क की पुलिस कमोबेश एक जैसा बर्ताव करती है।

एक आंकड़े के मुताबिक देश में हर तीन मिनट पर कहीं न कहीं महिलाओं के खिलाफ हिंसा से संबधित मामला दर्ज होता है। हर रोज दहेज उत्पीड़न के 50 मामले सामने आते हैं और हर 29वें मिनट पर एक महिला के साथ बलात्कार होता है। विश्व बैंक के अध्ययन के मुताबिक लड़कियों और महिलाओं के लिए जिन दस जोखिमपूर्ण स्थितियों की बात की गई है उनमें बलात्कार और हिंसा को सबसे ज्यादा खतरनाक माना गया है।

तमाम जख्म वक्त गुजरने के साथ भर जाते हैं लेकिन बलात्कार का जख्म न भर पाता है और न बदनामी पीछे छूटती है। अपराधी के खिलाफ मुकदमा दायर होने के बाद भी भुक्तभोगी महिला की यंत्रणा कम नहीं होती। अदालत में भी ऐसे-ऐसे सवाल पूछे जाते हैं कि यह जिरह भी उसके लिए बलात्कार के समान साबित होती है। इस पर भी बहुत कम मामलों में कसूरवारों को सजा मिल पाती है।

औरत की पैदाइश के साथ ही उसके खिलाफ शुरू हिंसा का चक्र आखिरी दम तक चलता रहता है। अलबत्ता तो लड़कियों को गर्भ में ही मार देने की कोशिश की जाती है, फिर भी यदि वह बच जाती हैं तो घर-बाहर दोनों जगह फब्तियों और छेड़छाड़ का शिकार होना उनकी विवशता है। ऑनर किलिंग, दहेज हिंसा, पति और परिवार का बुरा बर्ताव, साइबर अपराध, एमएमएस, तेजाब से हमला और बलात्कार जैसी कई तरह की हिंसा और अत्याचार से उन्हें रोजाना दो-चार होना पड़ता है। देश में दिन-ब-दिन बढ़ रही पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति ने औरत की जिंदगी को पहले से भी ज्यादा दुश्वार बना दिया है। उसके खिलाफ न सिर्फ हिंसा में इजाफा हुआ है, बल्कि उसके काम की स्थितियां भी दुष्कर हुई हैं। ऐसे माहौल में महिलाओं का उत्पीड़न और उन पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए कुछ खास कदम उठाने की फौरन दरकार है।

बलात्कार जैसे घिनौने अपराध से निपटने के लिए ऐसे सख्त कानून की जरूरत है, जो न सिर्फ कसूरवारों को जल्द से जल्द सजा दिलवाए, बल्कि कानून का इस तरह का खौफ हो कि आइंदा कोई इस घिनौनी करतूत को करने की हिमाकत न करे। पुलिस की चौकसी और अपराधियों के खिलाफ सख्ती बरतने के अलावा, सवाल समाज की मानसिकता बदलने का भी है। पुरुषवादी मानसिकता हमेशा औरत को व्यक्ति की जगह उपभोक्ता वस्तु समझती है, जिसे मर्द किसी भी कीमत पर हासिल करना चाहता है। जाहिर है, यही मानसिकता मर्द को अक्सर औरत के खिलाफ उकसाती है। जब तक समाज की यह रुग्ण मानसिकता नहीं बदलेगी तब तक औरत के हालात में कोई बदलाव नहीं आएगा। हां, यदि औरत अपने सशक्तिकरण के लिए खुद आगे आए तो हालात जल्द बदल सकते हैं।

यौन अपराधों पर कोर्ट सख्त

थानों में पर्याप्त संख्या में महिला अफसर तैनात करने को कहा

भास्कर न्यूज . नई दिल्ली

राजधानी में महिलाओं के खिलाफ बढ़ते यौन अपराधों पर दिल्ली की एक सत्र अदालत ने कड़ा रुख दिखाया है। अदालत ने दिल्ली पुलिस आयुक्त से कहा है यौन उत्पीड़न से संबधित मामलों से निपटने के लिए पर्याप्त संख्या में महिला अधिकारियों की तैनाती करें।

अदालत ने दुष्कर्म के एक मामले में जांच पुरुष पुलिस अधिकारी द्वारा करने पर कड़ी आपत्ति जताते हुए पुलिस कमिश्नर को यह निर्देश दिए हैं। रोहिणी की एडिशनल सेशन जज कामिनी लाउ ने कहा कि महिलाओं के खिलाफ बढ़ते हिंसक मामलों की जांच महिला पुलिस अधिकारी क्यों नहीं कर रही हैं। इस बाबत स्थाई आदेश भी दिया जा चुका है। यह बात शहर के पुलिस कमिश्नर की नजर में लाया जाना बेहद जरूरी है। एएसजे कामिनी लाउ ने आगे कहा कि यह बेहद चौंकाने वाली बात है कि यौन हिंसा से संबंधित मामलों की जांच के लिए दिल्ली के थानों में महिला पुलिस अफसरों की कमी है। यह स्थिति तब है, जब यह समझा जाता है कि दिल्ली पुलिस में महिला पुलिस अफसरों की संख्या सबसे ज्यादा है। सुप्रीम कोर्ट के आदेश और दिशा निर्देशों के अनुसार भी महिलाओं के खिलाफ अपराधों की जांच पुरुष अधिकारियों द्वारा नहीं की जा नहीं जा सकती। ऐसे में यह सुप्रीम कोर्ट के दिशा निर्देशों के खिलाफ है।

दुष्कर्म मामलों के लिए विशेष कोर्ट हो सकती है गठित

दुष्कर्म जैसे जघन्य अपराधों को सुलझाने के लिए दिल्ली में अलग से विशेष न्यायालय बनाए जा सकते हैं। शनिवार को हुई एक उच्चस्तरीय बैठक के बाद मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने यह बात कही। मुख्यमंत्री के मुताबिक सरकार बलात्कार के मामलों में विशेष अदालत गठन करने पर विचार करेगी। इसके अलावा मुख्यमंत्री ने कहा कि सर्दियों में कामकाजी महिला यदि शाम सात बजे के बाद ऑफिस छोड़ती है तो ऐसे में यह प्रबंधन की जिम्मेदारी है कि महिला को घर या घर के नजदीक तक छोड़ा जाए। मुख्यमंत्री का कहना है कि उन्होंने यह आदेश लागू करवाने के लिए श्रम आयुक्त को निर्देश दिए हैं। साथ ही सरकार महिला हेल्पलाइन नंबरों का भी प्रचार-प्रसार करेगी।

जज ने दिल्ली पुलिस कमिश्नर से थानों में तत्काल प्रभाव से महिला पुलिस अधिकारियों की नियुक्ति करने को कहा है। एएसजे ने कहा है कि यह पहलू पुलिस आयुक्त के सामने उठाया जाना जरूरी है, क्योंकि उन्हें इस बात पर गौर करना चाहिए कि महिलाओं के विरुद्ध अपराधों की जांच के लिए थानों में पर्याप्त संख्या में महिला पुलिस अधिकारियों की तैनाती क्यों नहीं की गई है।

एक नाबालिग के साथ यौनाचार मामले की जांच पुरुष उप-निरीक्षक और एक एसीपी स्तर के अधिकारी द्वारा करने पर अदालत की तरफ से यह सख्त टिप्पणी की गई। मामले में दिल्ली पुलिस ने अदालत में बताया था कि उसके पास महिला पुलिस अफसरों की फिलहाल कमी है। इसी कारण पुरुष अधिकारी मामले की जांच कर रहे हैं। सत्र अदालत की तरफ से यह टिप्पणी उस वक्त भी की गई है, जब दिल्ली में कुछ दिन पहले ही एक कॉल सेंटर में काम करने वाली युवती के साथ सामूहिक दुष्कर्म किए जाने की वारदात हुई है।

लंबे समय से प्रतीक्षित सुरक्षा विधेयक 2010 को पिछले दिनों केंद्रीय मंत्रिमंडल ने मंजूरी दे दी है। उम्मीद की जा रही थी कि यह एक असरदार कानून होगा, जो देश की करोड़ों महिलाओं के हाथ में एक ताकतवर हथियार बनेगा और जिससे वे कार्यस्थलों पर यौन अत्याचारियों का जोरदार ढंग से मुकाबला कर सकेंगी। लेकिन दुर्भाग्य से प्रस्तावित विधेयक ने इस उम्मीद को झुठला दिया है।

महिलाओं से क्रूर मजाक!

अमृता नंदी
लेखिका सामाजिक कार्यकर्ता हैं।

मेहरबानी करके मंजू से इस बारे में बात मत कीजिए। हादसा हालांकि नौ महीने पहले हुआ था, लेकिन वह अभी तक सदमे से उबरी नहीं है।' यह बात मुझे आगाह करने के लिए सुनीता ने कही, जो 46 वर्षीय घरेलू नौकरानी है। मंजू उसकी भतीजी है जो मात्र 19 बरस की है। घटना के चार महीने पहले वह छत्तीसगढ़ के आदिवासी इलाके से दिल्ली में घरेलू काम करने के लिए आई थी। जिस घर में वह काम कर रही थी, उसके मालिक के 24 वर्षीय बेटे ने उसे यौन हमले का शिकार बनाना चाहा। सुनीता बताती है, 'मंजू वहां से भाग निकली और बदहवास हालत में सीधे मेरे पास आई। मैं तो घबरा ही गई थी। फिर मैं मंजू के मालिकों से बात करने गई। उन्होंने मानने से ही इनकार कर दिया और उलटे मेरे और मंजू के बारे में बुरी बातें कहीं। पुलिस ने भी हमारी कोई मदद नहीं की। अब मैं किसके पास जाऊं?' यह केवल सुनीता का सवाल नहीं था। हाल ही में दिल्ली के जंतर-मंतर पर एक रैली के लिए इकट्ठा उसके जैसी कई घरेलू नौकरानियों ने भी यही सवाल किया। दुर्भाग्य से, संसद में पारित होने के लिए प्रस्तावित कार्यस्थलों पर यौन उत्पीड़न के विरुद्ध महिलाओं की सुरक्षा विधेयक 2010 भी इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं देता।

लंबे समय से प्रतीक्षित इस विधेयक को पिछले दिनों केंद्रीय मंत्रिमंडल ने मंजूरी दी। कार्यस्थलों पर महिलाओं की सुरक्षा के लिए कठोर कानूनी उपाय करने की जरूरत काफी वक्त से महसूस की जा रही है। 1997 के विशाखा बनाम राजस्थान सरकार मुकदमे में सुप्रीम कोर्ट ने यौन उत्पीड़न की विशद परिभाषा दी थी। विधेयक उसी परिभाषा को अपना आधार बनाता है। इसमें निजी और सार्वजनिक दोनों कार्यस्थल शामिल किए गए हैं और छात्राएं, शोध अध्येता, मरीज वगैरह भी इसकी परिधि में आते हैं। कई साल पहले जब राष्ट्रीय महिला आयोग इस विधेयक पर काम कर रहा था, तब महिला संगठनों, नारीवादियों और वकीलों से व्यापक विचार-विमर्श करके इसके कई प्रारूप बनाए गए थे। लेकिन अब जो विधेयक देश का कानून बनने जा रहा है, उसमें उस सारे विचार-विमर्श की कोई झलक दिखाई नहीं देती।

सबसे चौंकाने वाली चूक यह है कि घरेलू नौकरानियों को इस विधेयक के दायरे से बाहर कर दिया गया है। देश भर के मध्यवर्गीय और उच्च-मध्यवर्गीय घरों में लाखों महिलाएं घरेलू नौकरानियों के रूप में काम कर रही हैं। उन्हें हर दिन बेहिसाब कई घंटों काम करना पड़ता है (यह भी एक और किस्म का उत्पीड़न है)। उनके काम का स्वरूप ऐसा है जिसमें उनका हर तरह का शोषण व उत्पीड़न आसान हो जाता है। घरों की प्रायवेसी में काम करने की मजबूरी के कारण उनके यौन उत्पीड़न की आशंका सबसे ज्यादा होती हैं। ये महिलाएं गरीब होती हैं और अक्सर उन्हें अपने अधिकारों के बारे में पता नहीं होता। यहां तक कि कभी-कभी तो उन्हें यह भी नहीं पता होता कि यौन उत्पीड़न होता क्या है। विधेयक तमाम कामकाजी महिलाओं का जिक्र करता है। लेकिन इसके नाम में जिस 'सुरक्षा' की बात की गई है, उसकी सबसे ज्यादा जरूरत कामकाजी महिलाओं के जिस तबके को है, वह ये घरेलू नौकरानियां ही हैं।

पार्टनर्स फॉर लॉ इन डेवलपमेंट एक लीगल रिसोर्स ग्रुप है जो दिल्ली में सामाजिक न्याय और महिला अधिकार के मुद्दों पर काम करता है। इसकी निदेशक मधु मेहरा एक अहम बात की ओर ध्यान दिलाती हैं। 'सर्वोच्च न्यायालय के विशाखा फैसले ने यौन उत्पीड़न के अदृश्य अपराध को एक नाम दिया था और सरकार को यह मानने को मजबूर किया था कि यह व्यापक रूप से मौजूद है। इसके बावजूद लोग दिखावा करते हैं कि ऐसा कुछ होता ही नहीं। खेतों में काम करने वाली या निर्माण कार्यों में मजदूरी करने वाली महिलाओं को आम तौर पर कामकाजी महिला ही नहीं माना जाता, जिनके अधिकारों की रक्षा जरूरी है। हमारे देश में गरीब परिवारों की लड़कियां दस-बारह साल की किशोर उम्र से ही काम के लिए घर से निकलने को मजबूर होती हैं। इस बात की संभावना कम होती है कि वे ऐसे अपराधों के खिलाफ बोलने का साहस कर सकेंगी। इस सच्चाई से हम आंख कैसे मूंद सकते हैं?'

प्रस्तावित विधेयक गरीब व अनपढ़ घरेलू नौकरानियों की ही अनदेखी नहीं करता। लंदन में पढ़ी-लिखी 27 वर्षीय प्रिया बताती हैं कि उनके उत्पीड़न का मामला भी नए प्रस्तावित विधेयक की खामियों में खोकर रह जाएगा। 'सुपरवाइजर ने मुझसे सेक्सुअल फेवर्स की मौखिक रूप से मांग की, मेरे डायरेक्टर ने मुझसे उनके सबूत मांगे! यह विधेयक ऐसे कृत्यों के प्रमाण मांगता है जो अक्सर दबे-छिपे और अप्रत्यक्ष ढंग से किए जाते हैं। यही नहीं, विधेयक में प्रावधान है कि यदि मैं उत्पीड़न साबित नहीं कर पाई तो मेरे खिलाफ मुकदमा चलाया जा सकता है!' प्रिया का सवाल है कि 'यह न्याय का लक्षण है या क्रूर मजाक?' विधेयक में 'झूठी' शिकायत करने वाली महिलाओं के लिए सजा का प्रावधान है। इसकी तीखी आलोचना की जा रही है। प्रिया के उदाहरण से साफ है कि यौन उत्पीड़न के कुछ मामले ऐसे होते हैं जिन्हें उस तरह साफ-साफ साबित नहीं किया जा सकता, जैसे शारीरिक चोट या अन्य अपराधों को किया जा सकता है। यौन उत्पीड़न कई बार अस्पष्ट शब्दों या गूढ़ अर्थों वाले कृत्यों या इशारों में छिपा होता है। ऐसे में महिलाओं से यह मांग करने का क्या मतलब है कि वे उस अपमानजनक कृत्य को साबित करें या झूठे आरोप की सजा भुगतें? इससे पुरुष कर्मचारी महिला सहकर्मियों के साथ दुर्व्यवहार करने से तो नहीं डरेंगे, पर उत्पीड़ित महिलाएं शिकायत करने से जरूर डरेंगी।

झूठी शिकायत वाला प्रावधान रखने से साफ है कि यह मान लिया गया है कि महिलाएं पुरुष सहकर्मियों से हिसाब चुकता करने के लिए गलत मामले दर्ज करवाएंगी। लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। हमारे समाज में 'इज्जत' महिला की सबसे कीमती पूंजी है। वह नहीं चाहेगी कि ऐसे मामलों में उसे दुनिया-जमाने की नजरों का सामना करना पड़े। इसलिए यौन उत्पीड़न की शिकायत करने से पहले वह हजार बार सोचेगी। सच्चाई यह है कि महिलाएं आम तौर पर अपने ऊपर होने वाले तमाम किस्म के अपराधों को चुपचाप सहती रहती हैं और उनके खिलाफ सामने आने से परहेज करती हैं। फिर चाहे वह घरेलू हिंसा हो या दहेज उत्पीड़न। पुलिस रिकॉर्ड और सर्वे इसकी तस्दीक करते हैं। अपराध का शिकार व्यक्ति उसे बताने से डरता है, यह आज हमारे समाज में महिला जीवन की सच्चाई के बारे में बहुत कुछ कहता है। इसलिए शिकायत झूठी निकलने पर महिलाओं के खिलाफ मुकदमा चलाने के प्रावधान के पीछे रणनीति निश्चित तौर पर यह दिखाई देती है कि महिलाओं को भयभीत करके उन्हें खामोश रहने को मजबूर कर दो।

कुछ मामले ऐसे होते हैं जिन्हें उस तरह साफ-साफ साबित नहीं किया जा सकता, जैसे शारीरिक चोट या अन्य अपराधों को किया जा सकता है।

उम्मीद की जा रही थी कि एक असरदार कानून बनेगा, जो देश की करोड़ों महिलाओं के हाथ में एक ताकतवर हथियार होगा और जिससे वे कार्यस्थलों पर यौन अत्याचारियों का जोरदार ढंग से मुकाबला कर सकेंगी। लेकिन प्रस्तावित विधेयक ने दुर्भाग्य से इस उम्मीद को झुठला दिया है।

किस काम का होगा आधा-अधूरा कानून

विश्लेषण

अलका आर्य

महिला अधिकारों के लिए जद्दोजहद करने वाले संगठनों ने कार्यस्थल पर महिला यौन उत्पीड़न संबंधी विधेयक के कुछ प्रावधानों पर आपत्ति जताते हुए सरकार की मंशा पर सवाल खड़े कर दिए हैं। मसलन विधेयक के एक प्रावधान के अनुसार हिंसा की शिकार महिला को सबूत खुद पेश करने होंगे। क्योंकि इस तरह की हिंसा अक्सर अकेले में होती है अतः इसे साबित करने के लिए पीड़िता के लिए सबूत या गवाह जुटाना आसान नहीं होगा

बीते दिनों सरकार ने 2जी स्पेक्ट्रम घोटाले को लेकर विपक्ष की जेपीसी की मांग के शोर-शराबे के बीच लोकसभा में 'कार्यस्थल पर महिला यौन उत्पीड़न संरक्षण विधेयक 2010' पेश तो कर दिया मगर महिला संगठनों में इसके महत्वपूर्ण प्रावधानों को लेकर खासा आक्रोश है। चिंता की बात यह है कि संसद में पेश किए गए विधेयक के मसौदे में विशाखा गाइडलाइंस और राष्ट्रीय महिला आयोग द्वारा तैयार ड्राफ्ट के ऐसे महत्वपूर्ण बिंदुओं को नजरअंदाज किया गया है, जिससे चिंता होती है कि अगर इसी मौसदे वाला प्रस्तावित विधेयक कानून बन गया तो क्या होगा?

यूं तो प्रस्तावित 'कार्यस्थल पर महिला यौन उत्पीड़न संरक्षण विधेयक 2010' के अनुसार कार्यस्थल पर महिला के साथ शारीरिक संपर्क, इसकी कोशिश या छेड़छाड़, अशिष्ट टिप्पणी, अश्लील साहित्य दिखाना, यौनाचार की कोई ऐसी कोशिश जिस पर महिला को आपत्ति हो, यौन प्रताड़ना माना जाएगा। इस प्रस्तावित विधेयक के तहत कार्यस्थल पर महिलाओं के खिलाफ कामकाज के प्रतिकूल माहौल तथा महिला के रोजगार के भविष्य के मामले में धमकी या प्रलोभन को भी यौन उत्पीड़न माना जाएगा। इसके दायरे में कामकाजी महिलाओं के अलावा मरीज, छात्राएं व शोधार्थी भी शामिल हैं। कार्यस्थलों में महिलाओं के लिए शिकायत एवं निवारण तंत्र स्थापित करने की व्यवस्था है। विधेयक के प्रावधानों का उल्लंघन करने वाले नियोक्ता के खिलाफ कार्रवाई होगी।

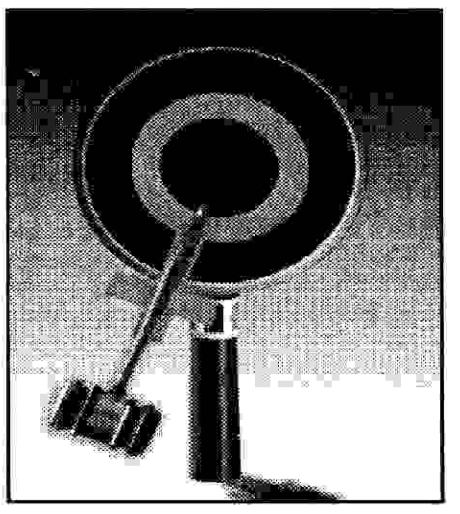

गौरतलब है कि महिलाओं के साथ कार्यस्थल में होने वाली यौन हिंसा को अपराध के रूप में पहचान सबसे पहले 1997 में विशाखा बनाम राजस्थान सरकार केस में मिली। इस केस की सुनवाई के दौरान ऐसी हिंसा मुद्दे के रूप में सामने आई व महिला सगंठनों, कानून के गलियारो में इस पर बड़ी चर्चा हुई। आखिरकार सर्वोच्च अदालत ने कार्यस्थल पर महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा संबंधी दिशा-निर्देश जारी किए। सर्वोच्च अदालत ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि जब तक इस बावत कोई कानून नहीं बन जाता तब तक विशाखा दिशा-निर्देश ही प्रभावी रहेंगे। इस तरह शीर्ष अदालत के विशाखा फैसले ने यौन उत्पीड़न के अदृश्य अपराध को एक नाम दिया और सरकार को मानने के लिए मजबूर किया कि यह बड़े पैमाने पर मौजूद है।

गौरतलब है कि महिला संगठनों के कई सालों के निरंतर संघर्ष के बाद यह विधेयक लोकसभा में पेश किया गया और महिला अधिकारों के लिए जद्दोजहद करने वाले इन संगठनों ने ही विधेयक के दो-तीन महत्वपूर्ण प्रावधानों पर कड़ी आपत्ति जताते हुए सरकार की मंशा पर सवाल खड़े कर दिए हैं। मसलन इस विधेयक के एक प्रावधान के अनुसार हिंसा की शिकार महिला को हिंसा संबंधी सबूत खुद ही पेश करने होंगे। इसके अभाव में अपराधी को दंड देना मुश्किल होगा। यह आशंका इसलिए जताई जा रही है क्योंकि इस तरह की हिंसा अक्सर अकेले में होती है। यदि कोई पुरुष महिला के शरीर को आपत्तिजनक तरीके से छूता है या उससे अकेले में अश्लील बातें करता है तो इसे साबित करने के लिए पीड़ित महिला के लिए सबूत या गवाह जुटाना आसान नहीं होगा। प्रस्तावित विधेयक में शिकायतकर्ता द्वारा फर्जी या दुर्भावनाग्रस्त शिकायत करने व फर्जी दस्तावेज पेश करने पर उसके खिलाफ कार्रवाई करने की सिफारिश व सजा का प्रस्ताव है। यह विशाखा फैसले के खिलाफ है क्योंकि उसमें साफ कहा गया है कि शिकायत करने वाली महिला के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी। अखिल भारतीय जनवादी महिला संगठन व अन्य संगठनों का अनुभव भी यही कहना है कि पीड़ित महिला पर झूठी शिकायत दर्ज करने का आरोप लगाना आम बात है और अधिकांश महिलाएं बदले की कार्रवाई की के डर से शिकायत करने के आगे नहीं आतीं। इस तरह के सिविल कानून बनाने का मूल मकसद महिलाओं को ऐसा माहौल प्रदान करना है, जिसमें कामकाजी महिलाएं यौन उत्पीड़न की शिकार होने पर बेहिचक शिकायत करें। प्रस्तावित विधेयक इस बावत आश्वस्त नहीं करता।

अगर यह विधेयक ऐसे ही अपने मूल रूप में पारित हो गया तो शिकायतकर्ता पीड़ित महिला के सिर पर ही तलवार लटकी रहेगी कि कहीं वही दोषी साबित न हो जाए। क्योंकि अगर आरोपी को लगता है कि उसके खिलाफ झूठी शिकायत दर्ज की गई है तो वह शिकायतकर्ता पर मानहानि का मामला दूसरे सिविल व क्रिमनिल कानूनों के तहत दर्ज कर सकता है। दुर्भाग्यवश प्रस्तावित विधेयक के अनुसार किसी महिला कर्मचारी की शिकायत 'झूठी या शरारतपूर्ण' पाए जाने पर उसके खिलाफ सेवा नियमों के तहत या अन्य कानूनों के तहत कार्रवाई का प्रावधान है।

लोकसभा में विधेयक पेश करते हुए महिला और बाल विकास मंत्री कृष्णा तीरथ ने कहा था कि इसका मुख्य मकसद हर स्तर और हर उम्र की महिलाओं के लिए कार्यस्थलों पर सुरक्षित वातावरण का निर्माण करना है पर हैरत है कि इसके दायरे में घरेलू नौकरानियों को नहीं रखा गया है जबकि नेशनल वूमेन कमीशन ने अपने ड्राफ्ट में असंगठित कार्य क्षेत्र की सूची में घरेलू काम का विशेष तौर पर जिक्र किया है। इस मामले में सरकारी अधिकारियों की दलील है कि सरकार किसी के घर के भीतर ऐसे मामलों में कैसे दखलादांजी करेगी? सबूत कहां से आएंगे और उन पर कितना भरोसा किया जा सकेगा। लगता है, सरकारी अधिकारी और मंत्रालय सबूतों का हौव्वा खड़ा कर पीड़ित को न्याय की बजाए डराते नजर आते हैं।

आंतरिक शिकायत समिति कितनी व्यावहारिक व प्रभावकारी साबित होगी, यह भी बहुत बड़ा सवाल है। इस विधेयक के अनुसार हर संस्था को अपने यहां आंतरिक नीति बनानी होगी लेकिन इसका पंजीकरण अनिवार्य नहीं है, लिहाजा सरकार के लिए पता लगाना मुश्किल होगा कि कोई संस्था इस शर्त का पालन कर रही है या नहीं। इसके अलावा अगर शिकायत प्रबंध निदेशक जैसे किसी बड़े अधिकारी के खिलाफ होगी तो क्या आंतरिक समिति के सदस्य निष्पक्ष जांच कर पाएंगे? विशाखा दिशा-निर्देश का पालन करते हुए जिन संस्थाओं ने अपने यहां शिकायत कमेटी गठित की थी, वहां भी बॉस को बचाने वाला तंत्र ज्यादा हावी दिखा। ऐसी संस्थाएं जहां दस से कम कर्मचारी हैं, वहां महिलाओं के खिलाफ यौन हिंसा के मामलों को देखने के लिए जिला अधिकारी स्थानीय कमेटी गठित करेगा। पर आशंका व्यक्त की जा रही है कि स्थानीय कमेटी गठन के सारे अधिकार जिला अधिकारी के पास होने से वह तानाशाही रवैया भी अपना सकता है। यहां पारदर्शिता जरूरी है।

महिलाओं के सशक्तीकरण के बावत ताकतवर कानून बनाना और उन्हें लागू करने के लिए आधारभूत ढांचा तैयार करना लोकतांत्रिक व्यवस्था में बराबरी व न्याय के लिए भी निवेश करना है। 'भारत में महिला प्रतिभाओं का संघर्ष' नामक हाल में जारी रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत में 30 प्रतिशत से भी कम महिलाएं नौकरी करती हैं और 18 से 23 साल की सिर्फ दस प्रतिशत महिलाएं उच्च शिक्षा में दाखिला लेती हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार शीर्ष पदों पर पहुंचने की इच्छा रखने के मामले में भारतीय महिलाएं अमेरिकी महिलाओं की तुलना में ज्यादा महत्वाकांक्षी होती हैं। काम को अधिकार के रूप में लेने वाली इस पहली महिला पीढ़ी को लोकसभा में पेश प्रस्तावित विधेयक के मौसदे ने निराश ही किया है।

कब तक मारी जाएंगी औरतें

नीरज

एक सॉफ्टवेयर इंजीनियर द्वारा अपनी पत्नी की निर्मम हत्या बेशक इस तरह की पहली घटना नहीं है। लेकिन लगातार ऐसी संवेदनशून्यता परिवार और समाज के लिए चिंता का विषय तो है ही। इस समाज में ऐसे भी अभागे बच्चे होंगे, जिन्होंने अपनी मां को पिता के हाथों मरते देखा होगा। मां की ममता से वंचित कर दिए गए ऐसे बच्चे शायद ही इस सदमे से कभी मुक्त हो सकें।

अपने लिए तमाम तरह की आजादी चाहने वाले पुरुष की दृष्टि में स्त्री का किसी और से संबंध होना इतना बड़ा अपराध है कि वह उसके जीवन को ही खत्म कर दे सकता है। यह जंगल न्याय ही है, क्योंकि शक्ति संतुलन पुरुष के पक्ष में है। यह तथ्य स्त्री को दूसरे दरजे का नागरिक बना देता है।

बीच बहस में

ऐसी हत्याओं के बीज समाज की संरचना में ही छिपे हैं, चाहे वह भ्रूण हत्या हो, पिता या भाई के हाथों 'ऑनर किलिंग' हो, दहेज हत्या हो, बलात्कार हो अथवा विवादित स्त्री के अवैध संबंधों के कारण हुई हत्या हो। इससे पहले कि यह चुप्पी इन हत्याओं की मौन स्वीकृति बन जाए, इसे तोड़ना जरूरी है। सवाल स्त्री के विवाहेतर संबंधों को समर्थन देने या न देने का नहीं है। सवाल यह है कि इसी मामले में पुरुष अपने लिए अलग मापदंड क्यों रखता है। समाज विवाहेतर संबंधों की तसदीक नहीं करता, लेकिन क्या दूसरी स्त्रियों से संबंधों के कारण किसी पुरुष को कभी जलील होना पड़ता है? फिर कोई विवाहित स्त्री अगर किसी दूसरे पुरुष के प्रति भावुक या संवेदनशील हो जाए, तो पुरुषवर्चस्ववादी समाज कानून अपने हाथ में क्यों ले लेता है?

सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है कि यदि स्त्री भी शारीरिक-सामाजिक रूप से पुरुष जितनी ही मजबूत होती, तो अपनी ओर उठते हाथों को मोड़ने की ताकत वह रखती। साफ है, इस सामाजिक अन्याय के लिए पुरुष और स्त्री के बीच का प्राकृतिक शक्ति असंतुलन ही जिम्मेदार है। इसी कारण सैकड़ों वर्षों से स्त्री पुरुषों का अत्याचार चुपचाप सहन करती आ रही है।

ऐसी घटनाएं स्त्री में असुरक्षा का भाव उत्पन्न करती हैं। जब स्त्री ऐसी असुरक्षा के साथ जिएगी, तो उस परिवार का वातावरण कैसा होगा, यह कल्पना करना मुश्किल नहीं। जिस देश की स्त्रियां इतनी असहाय होंगी, उस देश का भविष्य क्या होगा? यह विडंबना ही है कि सृष्टि की संरक्षिका और जन्मदात्री स्त्री की हत्या इस काबिल भी नहीं कि वह समाज के लिए चिंता और चर्चा का विषय बन सके, भर्त्सना की तो बात ही छोड़ दें।

हर रिश्ते में आजादी चाहने वाले पुरुष को आधी आबादी की आजादी के बारे में भी सोचना होगा। ऐसी सामाजिक चेतना की जरूरत है, जिसमें औरतों के लिए भी संवेदना हो। महिला संगठनों को इस दिशा में सचेत-सक्रिय होना होगा। पहले कहा जाता था कि पुलिस-प्रशासन और राजनीति में महिलाओं की पीड़ा सुनने वाला कोई नहीं है। आज ऐसी बात नहीं है। प्रशासन से लेकर राजनीति तक में महिलाएं चोटी पर पहुंच गई हैं। इसके बावजूद औरतों पर अत्याचार बदस्तूर जारी है। इसकी वजह दरअसल चोटी पर पहुंची उन महिलाओं का वैचारिक पिछड़ापन और पुरुषों की वैचारिक छाया में रहना है। उन्हें अपनी यह छवि तोड़नी होगी। ऐसी ही सोच महिलाओं को एक मां के रूप में अपने पुत्र में विकसित करनी होगी, ताकि वह स्वस्थ सोच के साथ बढ़े।

विवाहेतर संबंधों को भी आज के सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में देखना उचित होगा। सबसे पहले तो यह समझ लेना होगा कि ऐसे मामले आपराधिक नहीं हैं, क्योंकि विवाह एक सामाजिक समझौता है, पति-पत्नी के आपसी विश्वास का समझौता। प्रेम और आवश्यकता इसकी दो अनिवार्य शर्तें हैं। साथ रहते हुए मन में प्रेम नहीं पनप पाया, तो समझना चाहिए कि समझौते की नींव हिली हुई है और वह सिर्फ आवश्यकता की दीवार पर टिकी है। इस स्थिति के लिए मौजूदा कॉरपोरेट कल्चर भी जिम्मेदार है, जिसमें पुरुष और स्त्री साथ-साथ काम करते हैं। पश्चिम में तो यह स्थिति पहले से ही थी, अब भूमंडलीकरण के कारण यहां भी ऐसे मामले सामने आ रहे हैं। लिहाजा ऐसी स्थिति में पति-पत्नी, दोनों को एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हुए इसे घर में ही सुलझाना होगा। तथ्य यह है कि दुनिया की कोई भी वैवाहिक व्यवस्था, चाहे वह कितनी भी सुदृढ़ क्यों न हो, इन्हें रोक नहीं पाई है। लिहाजा इसके समाधान परिवार अथवा कानून की परिधि में तलाशना ही उचित है।

पति-पत्नी की हिंसक होती प्रवृत्ति

समाज

अंजलि सिन्हा

चंडीगढ़ की अनुराधा और बलबीर सिंह सन्धु का बारह साल का वैवाहिक जीवन आपसी झगड़ों के बावजूद बहुत तनाव का कारण नहीं बना था। मगर कुछ साल पहले सन्धु का किसी स्थानीय मॉडल से सम्बन्ध बना और परिवार में तनावों की बाढ़ आ गयी। इसी बीच अनुराधा ने अपने मायके के घर में ब्यूटी पार्लर शुरू किया जिससे उसकी अच्छी आमदनी होने लगी। अन्ततः जलन, ईर्ष्या और अपने दम पर खड़े रहने की अनुराधा की जिद से पिंड छुड़ाने के लिए सन्धु ने सुनियोजित ढंग से अपनी पत्नी की हत्या की।

निश्चित ही महानगरों में दंपतियों द्वारा एक-दूसरे को मारने की यह अकेली खबर नहीं है। मनोवैज्ञानिकों व पुलिस का कहना है कि हिन्दुस्तान में अब लोग आत्मीय रिश्तों में उभरनेवाली कठिनाइयां दूर करने के लिए हिंसा का सहारा लेते देखे जा सकते हैं। जीवनसाथी पर पूरी तरह काबू करने की समझ या बढ़ती भावनात्मक असुरक्षा के चलते प्यार घातक बनता दिख रहा है और निराशा या असहमति को बर्दाश्त करने की क्षमता घटती जा रही है। दिल्ली की ही बात करें तो पुलिस के मुताबिक हार्डकोअर अपराधियों के जरिए अपराध का अनुपात जहां 15 फीसद से 8 फीसद तक पहुंचा है, वहीं भावना के बहाव में आकर होनेवाले हत्याओं का अनुपात 15 फीसद तक पहुंचा है।

महिला मुद्दों की अध्ययनकर्ता एवं अपराधविज्ञान की जानकार ईरान की सुश्री शाहला मोअज्जमी ने जीवन साथी द्वारा मारे जाने की घटनाओं पर फोकस करते हुए एक अध्ययन किया। वह 220 ऐसे लोगों से मिली जो अपने जीवनसाथी की हत्या के जुर्म में जेल में थे। इसमें 131 पुरुष और 89 स्त्रियां थी। उन्होंने पाया कि सौ फीसद मामलों में पतियों ने बिना किसी की मदद से पत्नी को मार डाला था तो 67 फीसदी में स्त्रियों ने अपने पार्टनर या प्रेमी की मदद से पति के हिंसक व्यवहार से छुटकारा पाया। जिन महिलाओं ने हत्या की थी, उसका विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा

था कि इसके कई संरचनात्मक कारण होते हैं, जिसकी एक वजह 12-14 साल की नासमझ उम्र में शादी होना भी है।

अपने यहां सूचना टेक्नालॉजी के अहम केन्द्र बेंगलूरू में घरों के अन्दर होनेवाली आपराधिक घटनाओं में आए जबरदस्त उछाल के जरिए हम इस परिघटना को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। यह अकारण नहीं कि बेंगलूरु के पुलिस कमिश्नर शंकर बिदारी ने जनहित में एक अलग ढंग की अपील जारी की जिसमें लोगों से कहा गया कि यदि आप साथ नही रह सकते तो अलग हो जाएं लेकिन एक-दूसरे को मारे नहीं। पुलिस सिर्फ आरोपी को गिरफ्तार कर सकती है। वह घर के अन्दर के षड्यंत्रों पर काबू नहीं पा सकती है। पुलिस थानों के आंकड़े बताते हैं कि बेंगलूरु में दम्पतियों में एक-दूसरे को जान से मार डालने की घटनाएं बढ़ रही हैं। वहां पिछले दिनों किये गये एक सर्वेक्षण के मुताबिक जनवरी से अक्टूबर 2010 के बीच शहर में कुल 142 केस हत्या के दर्ज हुए। इनमें से 45 पति या पत्नी की हत्या के पाये गए। दो माह पहले बंगलूरु में इन्फोसिस नामक कम्पनी में काम करनेवाले एक युवक ने अपनी शिक्षिका पत्नी की हत्या की और पुलिस को गुमराह करने की कोशिश की। पुलिस की पूछताछ में वह टूट गया और उसने जो कारण बताया वह बहुत विश्वसनीय मालूम नहीं हो रहा था। उसका कहना था कि चूंकि उसकी पत्नी अपने सास-ससुर की सेवा नहीं करती थी, इसलिए उसने उसकी हत्या की। ऐसी घटनाओ के पीछे मानसिक तनावों की भूमिका भी मानी जा रही है। अगर ठीक से विश्लेषण करना हो तो देश के दूसरे शहरों में भी होनेवाले अपराधों में आत्मीय रिश्तों की घटनाओं का लेखाजोखा अवश्य लिया जाना चाहिए। ऐसी घटनाओं के पीछे यदि मनोवैज्ञानिक कारण माना जाए तो उसकी तह में जाने की जरूरत है।

दरअसल पुराने मूल्य मान्यताएं टूटने के साथ नये मूल्यों के सामंजस्य न बिठा पाना निश्चित ही एक समस्या है। हर समाज को समय के साथ नये मूल्य गढ़ने होते हैं पर हमारे समाज में इस सन्दर्भ में सचेतन प्रयास नहीं दिखता। लोग यही महिमामंडन करते मिल जाएंगे कि पुराना ही सबसे अच्छा था। जबकि पुराने परिवारों और समाजों में भी समस्याएं कम नहीं थीं। सिर्फ स्वरूप अलग था।

हत्या-आत्महत्या से अलग होकर भी हम कुछ समस्याओं की पड़ताल कर सकते है जो तनावों पैदा करने की भूमिका निभा रहे है। मसलन रिश्तों में पारदर्शिता, जिम्मेदारी और जवाबदेही न होना, विवाहेतर संबंध भारतीय परिवारों में सतत समस्या रही है। फर्क यह है कि पहले यह विकल्प सिर्फ पुरुषों के पास था अब स्त्री-पुरुष दोनों के पास है। यहां तलाक या सेपरेशन आसान नहीं है लेकिन समानान्तर कई रिश्ते एक साथ चलाते हुए परिवार बने रहने की गुंजाइश रहती है। ऐसे में उनका तनावपूर्ण होना लाजमी है। यदि एक इन्सान दूसरे के साथ मेल नही बैठा पा रहा हो तो रजामंदी से अलग हो जाना बेहतर होता है। परिवार के दूसरे सदस्यों को भी अपनी राय नहीं थोपनी चाहिए।

बिहेवियर

सीमा भाटिया

पशु, गंवार या नारी

कोई भी नहीं ताड़न की अधिकारी

महान संत तुलसीदास ने जाने किस मानसिक स्थिति में अजीबोगरीब कथन लिख दिया-'ढोल, गंवार, पशु और नारी, सब ताड़न के अधिकारी।' हजारों बरसों से इस लिखे पर बखूबी अमल किया जा रहा है। ओशो कहते हैं, 'मैंने अकसर अपनी आंखों से कई लोगों को अपनी पत्नी को मारते देखा है। मुझसे जब रहा नहीं जाता, तो बेबस होकर मैं घर में घुस कर आदमी को रोकता हूं, पर हैरानी इस बात की होती है कि हर बार पत्नी अपने पति की तरफदारी करती और मुझे उनके घरेलू मामलों में दखलअंदाजी करने से रोक देती। कितने दुख की बात है कि हमारे देश में औरतों की मानसिकता बन चुकी है कि अगर पति मुझे मार रहा है तो वह कोई जुर्म नहीं कर रहा।'

दरअसल, बात किसी एक धर्म की नहीं, बल्कि इंसानियत की है। हाल ही में यूएई में रहने वाले पुरुष ने अपनी पत्नी और 23 साल की बेटी की इतनी पिटाई की कि उन्होंने थक-हार कर न्याय के लिए अर्जी दी। बेटी के होंठ, दांत और घुटने पर काफी चोटें आई थीं। कोर्ट ने कहा कि पति को अपनी पत्नी और बेटी को अनुशासित करने के लिए मारने का पूरा अधिकार है, पर शरीर पर चोट के निशान दिखना ठीक नहीं है! यकीन नहीं होता कि किसी धार्मिक किताब में स्त्री को मार कर वश में करने की बात लिखी होगी। यदि लिखी भी होगी, तो बिना किसी सवाल के उसे 21वीं सदी में भी लागू किया जा रहा है।

संविधान से हट कर सोचा जाए, तो जानने की जरूरत है कि आखिर किस तरह के आदमी अपनी पत्नी और बेटियों को पीटते हैं और किस तरह की औरतें इस तरह की यातना सहती हैं! रिसर्च से पता चलता है कि केवल मानसिक रूप से कमजोर और नाकाम लोग अपने से कमजोर पर हाथ उठाकर बलवान महसूस करते हैं। ऐसे लोग इतना असुरक्षित महसूस करते हैं कि उनके पास शारीरिक बल दिखाकर अपनी बात मनवाना और किसी को वश में करने के अलावा कोई और उपाय नहीं होता। कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिन्होंने बचपन में अपने पिता को पिटाई कर अपना हुक्म चलाते देखा होता है। जहां एक ओर, ऐसे बच्चों के जेहन में पिता के प्रति डर घर कर जाता है, दूसरी ओर वे मां को कमजोर समझने लगते हैं। स्वाभाविक है, बच्चे बड़े होकर बलवान बनना चाहते हैं, न कि कमजोर। धीरे-धीरे ऐसे बच्चे भी मार-पीट कर अपनी बात मनवाना सीख जाते हैं, जिन्हें हम स्कूल में 'बुली' भी कहते हैं।

यह पुरुष-प्रधान देश है और संविधान कितनी भी कोशिश करे, जब तक सामाजिक बदलाव नहीं आएगा, तब तक औरतों के साथ पशु या वस्तु की तरह ही बर्ताव किया जाता रहेगा। क्या कारण है कि पढ़ी-लिखी होने के बावजूद औरतें चुपचाप अपने पति या ससुरालियों द्वारा दी जा रही शारीरिक यातना सहती रहती हैं। इसका भी उत्तर कहीं न कहीं उनकी परवरिश में ही है। सहन करना और पलायन करना औरत का गहना है, यह कह-कह कर हम अपनी लड़कियों को बड़ा करते हैं। मां को कभी गाली देकर और कभी मारपीट कर भी, जब पिता की सेवा करते हुए देखती हैं तो बेटियां आंतरिक रूप से समझ जाती हैं कि यही रीत है और यही सही भी है।

आगे चलकर पति के कड़वे बोल या बात-बात पर हाथ उठा देना कोई अजूबा नहीं रह जाता। पति भी बड़ी चालाकी से पत्नी को जतलाते हैं कि उसका व्यवहार ही उन्हें वहशी बनने पर मजबूर करता है। यहां तक कि सरकारी नौकरी में ऊंचे ओहदे पर पोस्टेड सज्जन अक्सर अपनी पत्नी पर यह कह कर हाथ उठा देते हैं कि 'जब तक तुम्हारी जबान चलेगी, तब तक मेरा हाथ।' पत्नी फिर भी सेवा में हाजिर है और न हो तो कहां जाए? 1983 में डोमेस्टिक वाइलेंस को भारतीय दंड संहिता में अपराध माना गया और सेक्शन 498-ए के तहत दोष साबित होने पर तीन साल की सजा और जुर्माना तय किया गया। निम्नलिखित बिंदुओं को व्यवहारगत अपराध की श्रेणी में रखा गया है :

1. ऐसा व्यवहार जो औरत को आत्महत्या करने पर मजबूर करे।

2. ऐसा व्यवहार जो औरत की जिंदगी, उसके शरीर या सेहत पर गहरा नकारात्मक असर डाले।

3. औरत पर अपने मायके से संपत्ति अथवा नकदी लाने संबंधी दबाव या मांग पूरी न होने पर अत्याचार किया जाए।

भारतीय संविधान इस एक्ट के तहत, खाना न देना, अस्वाभाविक यौन के लिए मजबूर करना, मां को बच्चे से दूर रखना, शारीरिक यातना देना, ताने देकर मानसिक कष्ट पहुंचाना, घर में ही कैद रखना और लोगों से मिलने-जुलने की अनुमति न देना, मां के सामने उसके बच्चों को तंग करना जिससे उसे मानसिक कष्ट पहुंचे, मां को बच्चों से दूर रखना, दहेज न देने की सूरत में तलाक की धमकी देना और घर से बाहर निकाल देने जैसे कुछ विशेष कारण मानता है। यदि यह घटना किसी के यहां हो रही हो तो स्वयं वह या फिर कोई रिश्तेदार भी इसकी रिपोर्ट लिखवा सकती है। जिस वर्ष इससे संबंधित विधेयक पारित हुआ, करीब-करीब उसी साल प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने अपनी बहू मेनका और पोते वरुण को सामान समेत घर से बाहर निकाल दिया था, तो यह कहना कि यह समस्या किसी खास सामाजिक वर्ग की है, बहुत गलत होगा।

ऐसा नहीं कि भारत ने औरतों की सुरक्षा के लिए कानून नहीं बनाये हैं। कानून तो हैं, लेकिन या तो उनकी सही जानकारी नहीं दी जा रही या फिर सामाजिक कलंक के डर से औरतें उसका सहारा नहीं लेती। पढ़ी-लिखी और आर्थिक रूप से आजाद होने पर भी पति के साथ होने से सुरक्षित होने की भावना रहती है। क्या यह सोच इतनी जरूरी है कि इसके लिए औरतें पिटना और बेइज्जत होने और कोर्ट का सहारा लेने से बेहतर समझती हैं। 'यूनिसेफ' ने 1996 में सर्वे किया, उसके आंकड़े बताते हैं कि भारत में 45 फीसद औरतें घरेलू हिंसा की शिकार हैं। सर्वे में शामिल देशों के मुकाबले हम जापान के बाद हैं, लेकिन मेरा मानना है कि सर्वे में हिस्सा लेने वाले लोगों की संख्या बहुमत को प्रदर्शित नहीं करती और कोई भी सर्वे भारत में घरेलू हिंसा संबंधी आंकड़ा सच्चाई से कहीं कम ही दिखेगा। कई साल पहले, यहां तक कि आज भी भारत में औरतों को पढ़ने-लिखने से इसलिए रोका जाता रहा है कि यदि उन्हें बाहर जाने का मौका मिला, तो वे तुरंत समझ जाएंगी कि वे पुरुष से कम नहीं हैं, तब उन्हें दबा कर रखना मुश्किल होगा। इसलिए जरूरी है कि हम आगामी पीढ़ी को बताएं कि सही क्या है। आत्मसम्मान हमारी सेहत के लिए भोजन जितना ही जरूरी है। भारत में औरतों ने सिद्ध कर दिया है कि घर का कामकाज संभाल कर भी वे व्यावसायिक क्षेत्र में पुरुषों से कहीं आगे निकल सकती हैं। शायद कभी वक्त बदलेगा और पति को घर में प्रमुख और भगवान के बजाय- पति-पत्नी, दोनों को बराबर का दर्जा मिलेगा। दोनों मिलजुल कर निष्पक्ष फैसले करेंगे और दोनों को अपने विचार रखने का पूरा हक होगा। दिवाली का त्योहार अंधेरे पर उजाले की विजय का प्रतीक है। अपने घरों के बाहर तो हम दीये और लड़ियां लगा कर रोशनी कर देंगे, पर जब तक हमारे समाज में औरतों का सम्मान नहीं होगा, अंधकार ही रोशनी पर हावी रहेगा।

(लेखिका नई दिल्ली स्थित मूलचंद अस्पताल में क्लीनिकल साइकोलॉजिस्ट हैं)

अगर आपके मन में ऐसे विचार आते हैं, जिन्हें संकोचवश आप किसी से शेयर नहीं कर पाते, इनका कारण जानना चाहते हैं या इन्हें सुलझाना चाहते हैं तो आप प्रश्न पूछ कर इनका निदान पा सकते हैं

twitter : seema_bhatia
sundayumang@gmail.com

बेघर महिलाएं : सुरक्षा के सवाल

सुनीता ठाकुर

लेखिका पत्रकार हैं।

देश की राजधानी दिल्ली में इस समय डेढ़ लाख से ज्यादा लोग बेघर हैं और सड़कों पर जीवन व्यतीत करने को विवश हैं। यह संख्या दिल्ली की कुल जनसंख्या का लगभग एक प्रतिशत है। शहर में कुल बेघर जनसंख्या का 5-7 प्रतिशत बेघर महिलाएं हैं।

सर्दियों के आगमन के साथ बेघर लोगों की सुरक्षा और संरक्षण सरकार के लिए जितना विकराल चिंता का विषय बनता जा रहा है, उतना ही उसका समाधान जटिल नजर आ रहा है। देश की राजधानी दिल्ली में इस समय डेढ़ लाख से ज्यादा लोग बेघर हैं और सड़कों पर जीवन व्यतीत करने को विवश हैं। यह संख्या दिल्ली की कुल जनसंख्या का लगभग एक प्रतिशत है। शहर में कुल बेघर जनसंख्या का 5-7 प्रतिशत बेघर महिलाएं हैं, जो दिन और रात सड़कों पर खुले में रहने और सोने के लिए विवश हैं। सुप्रीम कोर्ट द्वारा बेघर गरीबों के लिए मूलभूत सुविधाओं से युक्त आश्रय गृहों और रात्रि विश्राम गृहों की व्यवस्था का फरमान सुनाए भी अरसा होने को है।

कॉमनवेल्थ खेलों की अफरा-तफरी में सरकार ने दिल्ली के खाली पड़े सामुदायिक भवनों और सरकारी इमारतों में इन लोगों के लिए जो इंतजाम किए थे, वे कितने स्थायी हैं, इस बात को लेकर सभी को संदेह है। उन्हें सिर छुपाने की छत, पीने का पानी और सेनिटेशन जैसी मूलभूत सुविधाएं भी मुहैया नहीं हैं। सड़कों के किनारे बना दिए गए सुलभ शौचालयों में देने के लिए पैसे नहीं-अतः शहर की साफ-सफाई एक अलग मुद्दा बन जाता है। दिन सड़कों पर भीख मांगते, छोटा-मोटा सामान बेचते बीत जाता है मगर रात को आदमीयत और आदमीयत की सलामती दोनों का खतरा नसों में भय बनकर दौड़ने लगता है। पुरुषों के लिए बेघर जीवनयापन के खतरे जितने विकराल हैं, महिलाओं के लिए वे उससे कहीं ज्यादा भयावह हैं।

बेघर महिलाओं के साथ खान-पान, ओढ़न-बिछावन, बच्चों के लालन-पालन, सुरक्षा और संरक्षण से ज्यादा खुद को यौनिक-ज्यादतियों से बचाए रखना एक सबसे बड़ी चुनौती है। अगर उनके कहे को सच मानें तो उनकी मजबूरी का फायदा उठाने वालों में आम आदमी से लेकर पुलिस वाले तक शामिल हैं। राजधानी की सड़कों पर रहने और सोने की जगह प्राप्त करने का भाड़ा दूसरे महानगरों की तर्ज पर तय होता है। 'पूरा तंत्र व्यवस्था और सुरक्षा के नाम पर दिहाड़ी मारता है', चाहे वह इंसानी सुरक्षा के सरकारी नुमाइंदे हों या फिर इलाके के आपराधिक ठेकेदार।

डेढ़ करोड़ की आबादी वाली देश की राजधानी में कुल 25 स्थायी रात्रि-विश्राम गृह हैं, इनमें से 10 दिल्ली नगर निगम द्वारा चलाए जा रहे हैं। कॉमनवेल्थ खेलों के आयोजन-व्यवस्था के तहत सरकार ने ऐसे ही कई और आश्रय गृहों की व्यवस्था उच्चतम न्यायालय के आदेश के बाद की थी, उनकी अब क्या हालत है, कोई नहीं जानता। इस समय दिल्ली के विभिन्न हिस्सों में चल रहे टेंट आश्रय शिविरों का सर्दियों में क्या होने वाला है-यह हम सोच ही सकते हैं।

हैरानी की बात यह है कि पूरी राजधानी में बेघर महिलाओं के लिए केवल 2 महिला रात्रि विश्राम-गृह हैं। इनमें से एक अमन बिरादरी तथा एक आश्रय अधिकार अभियान नामक संस्था द्वारा चलाया जा रहा है। यह महिला हिंसा और महिला सुरक्षा के प्रति हमारे परिवार, समाज और शासन की संकुचित सोच, अकर्मण्यता और लापरवाही का जीता-जागता सबूत है।

महिलाओं के प्रति हिंसा का अंत करने के लिए 'सीडॉ' जैसे अंतरराष्ट्रीय समझौते पर हस्ताक्षर किए हमारी सरकार को आज 60 साल से ऊपर हो गए हैं, मगर जरा सोचिए कि आज भी महिलाएं परिवार, रिश्तों, समाज और देश में कितनी सुरक्षित हैं। सोचती हूं-एक महिला शिक्षित तो पूरा परिवार (तीन पीढ़ियां) शिक्षित का नारा देने वाली हमारी सरकार और हमारा समाज क्यों नहीं सोच पाता कि एक महिला के पीड़ित/असुरक्षित और शोषित होने का कितनी ही समस्याओं से गहरा रिश्ता हो सकता है!

बहरहाल, इन महिलाओं की सुरक्षा और संरक्षण के लिए सरकार जागे या न जागे, किंतु दिल्ली के कई सामाजिक संगठनों और महिला संस्थाओं द्वारा एकजुट प्रयास किए जा रहे हैं, देखें कि सार्वजनिक निजी सहभागिता के ये एकजुट प्रयास कितनी नागरिक सुरक्षा और जिम्मेदारियों को पूरा कर पाते हैं, लेकिन एक नागरिक और एक ही इंसानी शहर के वासी होने के नाते हम इतना तो कर ही सकते हैं कि बिना किसी आर्थिक सहायता के चलाए जा रहे इन आश्रय गृहों के लिए आधारभूत जरूरतों का सामान जुटा सकें। सब कुछ शासन-प्रशासन पर छोड़ें ही क्यों?

sunitathakur_raghav@yahoo.co.in

खस्ताहाल रैन बसेरे और जान लेती ठंड

मुद्दा

जाहिद खान

उत्तर भारत में पड़ रही कड़ाके की ठंड के बीच रैन बसेरे गिराए जाने की खबरों का स्वतः संज्ञान लेते हुए सुप्रीम कोर्ट द्वारा हाल में सरकार को दिए गये निर्देश स्वागत योग्य हैं। उच्चतम न्यायालय ने सर्दी खत्म होने तक देशभर में किसी भी स्थाई या अस्थाई रैन बसेरे को न हटाने का निर्देश संबधित सरकारों को दिया। जस्टिस दलवीर भंडारी और दीपक वर्मा की दो सदस्यीय खंडपीठ ने मानवाधिकार संगठन पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज की याचिका की सुनवाई के दौरान कहा कि हाड़-मांस कंपा देने वाली ठंड शुरू होने से ठीक पहले, रैन बसेरों को ढहाने या हटाने का फैसला बेहद असंवेदनशील और आपत्तिजनक है। खंडपीठ ने आदेश दिया कि सरकार तीन दिन के भीतर गिराए गए दो रैन बसेरों को दुरुस्त कराए। गौरतलब है कि राजधानी दिल्ली के कालकाजी इलाके में स्थित दो रैन बसेरों को दिल्ली विकास प्राधिकरण ने बिना किसी वैकल्पिक बंदोबस्त के अचानक तोड़ दिया। सरकारी महकमे के इस संवेदनहीन रवैये ने उनके सामने कई मुश्किलें खड़ी कर दी थीं।

सर्दी शहरों में बेघरों के लिए मुसीबत बनकर आती है। गर्मियां तो जैसे-तैसे फुटपाथ पर सोकर गुजर जाती हैं लेकिन सर्दियां कहर बनकर टूटती हैं और सर्दी बढ़ते ही ठंड से मरने वालों की खबरें आने लगती हैं। आंकड़े और रिपोर्टें बताती हैं कि ठंड से मरने वालों की तादाद गांवो की बनिस्बत शहरों में ज्यादा होती है। देश में लाखों लोगों के पास अपना कोई घर, कोई आसरा नहीं। मूसलाधार बारिश हो या कड़कड़ाती ठंड उन्हें रात, फुटपाथ और खुले आसमान के नीचे ही गुजारनी होती है। ऐसे ही बेघर निराश्रित लोगों के लिए सरकार अस्थाई बसेरे यानी रैन-बसेरों का बंदोबस्त करती है। वहीं पीने का पानी, रसोई और शौचालय जैसी बुनियादी सहूलियतें भी मुहैया कराई जाती हैं।

हमारा संविधान हर नागरिक को जीने का मौलिक अधिकार प्रदान करता है। संविधान के अनुच्छेद 19 (1) और 21 के मुताबिक हर नागरिक भोजन और आवास की सुविधा मिलनी चाहिए। घर के अभाव में गरीब, बेघर और फुटपाथ पर जिंदगी बसर करने वालों के लिए, रात गुजारने के वास्ते कम से कम रैन बसेरा तो होना ही चाहिए। मई 2010 में सुप्रीम कोर्ट ने इस संबंध में बाकायदा सभी राज्यों को आदेश दिए थे कि जनसंख्या के आधार पर शहरों में रात्रिकालीन आश्रय स्थलों का निर्माण किया जाए जहां बुनियादी सहूलियतें मसलन कंबल, दवाइयां, पानी, शौचालय और बिजली आदि निःशुल्क मुहैया करायी जाएं। लेकिन सरकारें इस दिशा में कारगर कदम उठातीं नहीं दिखतीं। हालांकि उनके इस रवैये के खिलाफ अदालतें सख्ती दिखाती रही हैं। बीते साल ही ठंड के दौरान राजधानी दिल्ली में एक रैन बसेरे को गिरा दिया गया था। सैंकड़ों लोग खुले आसमान के नीचे आ गए और ठंड से एक व्यक्ति की मौत हो गई। उस वक्त भी अदालत ने स्वतः संज्ञान लेते हुए दिल्ली सरकार को फटकारा था। लेकिन बेघरों के मामले में सरकार का रवैया आज भी वैसा ही दिखता है। वैकल्पिक इंतजाम किए बिना रैन बसेरे तोड़ना हद दर्जे की संवेदनहीनता है, जिसे किसी भी सूरत में माफ नहीं किया जा सकता।

राजधानी दिल्ली के मास्टर प्लान 2021 के मुताबिक हर एक लाख की आबादी पर एक स्थाई रैन बसेरा होना चाहिए। जाहिर है, इस हिसाब से दिल्ली में फिलवक्त कम से कम 140 रैन बसेरों की दरकार है। लेकिन जमीनी स्तर पर देखें तो यहां महज 64 रैन बसेरे हैं और उनमें भी बुनियादी सहूलियतों का नामो निशां नहीं हैं। बेघर होने के बाद भी बहुत से लोग इनमें आना गवारा नहीं समझते।

रैन बसेरों की यह बदहाली अकेली दिल्ली की नहीं है। विभिन्न राज्यों की राजधानियों और छोटे-बड़े शहरों में हालत और भी गए-गुजरे हैं। उत्तर भारत के लखनऊ, पटना, भोपाल, जयपुर, चंडीगढ़, भोपाल और रायपुर जैसे राजधानी वाले शहरों में पर्याप्त रैन बसेरे नहीं हैं। कहीं रैन बसेरे हैं तो भी इनका इस्तेमाल बेघर नहीं कर पा रहे हैं। कई में फालतू सामान रखा है, तो कई दबंगों के कब्जे में हैं। कई रैन बसेरों की हालत भिखारियों ने इतनी खराब कर दी है कि लोग उनमें जाने से कतराते हैं। औरतों और बच्चों की सुविधा और सुरक्षा के लिहाज से भी ये ठीक नहीं हैं। कहने को सरकारें नगर निगमों, पालिकाओं को लाखों-करोड़ो रुपए रैन बसेरे बनवाने के लिए देती हैं, पर ये ईमानदारी से खर्च ही नहीं किए जाते। हमारे जन प्रतिनिधि भी इस ओर उदासीन बने रहते हैं।

सवाल सिर्फ सरकारी संवेदनहीनता या रैन बसेरों की व्यवस्था के मामले में ही खड़े नहीं होते, बल्कि सरकार की उन नव उदारवादी आर्थिक नीतियों पर भी खड़े होते हैं, जिनकी वजह से शहरों में ऐसे बेघरों की संख्या बढ़ती जा रही है। ठंड से गरीबों को बचाने में तभी कामयाबी मिल सकती है, जब हमारी आर्थिक नीतियों की प्राथमिकता बदलेगी। जल, जंगल, जमीन और खाद्यान्न समेत तमाम बुनियादी जरूरतों से जुड़े कार्यक्रमों को कारगर तरीके से संचालित करने की आज पहले से कहीं ज्यादा जरूरत है, ताकि गरीब लोग मौसम के लगातार बढ़ते जानलेवा कहर का अच्छी तरह से मुकाबला कर सकें और कम से कम अपने लिए एक अदद छत का इंतजाम कर सकें।

गांधी जयंती पर बेघर लोगों के लिए आधार योजना शुरू

जनसत्ता सवाददाता

नई दिल्ली, 2 अक्तूबर। गांधी जयंती के मौके पर समाज के गरीब बेघर लोगों की पहचान के लिए आधार योजना शुरू की गई। इस मौके पर मुख्यमंत्री ने 100 लोगों को बेघर कार्ड दिए और 40 बेघर लोगों का विशिष्ट पहचान पत्र आधार के लिए नामांकन किया गया।

दिल्ली सरकार के सामाजिक सुविधा संगम और भारतीय विशिष्ट पहचान प्राधिकरण की ओर से हुए समारोह में मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने बेघर लोगों को बेघर कार्ड प्रदान किए। उन्होंने आधार परियोजना के लिए बेघर लोगों के नामांकन की शुरुआत भी की। उन्होंने कहा कि अगले दो-तीन हफ्तों में बेघर लोगों को विशिष्ट पहचान संख्या मिल जाएगी। उन्होंने कहा कि इससे सामाजिक सुविधाओं से वंचित रहे लोगों तक पहुंचने में आसानी होगी। आधार के लिए नामांकन देर रात में किया जाएगा। इस काम के लिए सेंट स्टीफंस अस्पताल प्रमुख भूमिका निभा रहा है। यह उन बेघर लोगों की पहचान में योगदान देगा जिनके पहचान का अपना कोई प्रपत्र नहीं है। दिल्ली में छह महीने से अधिक समय से रह रहे बेघर लोग बेघर कार्ड के पात्र हैं। इस कार्ड में बाद में आधार संख्या भी दर्शाई जाएगी। हर व्यक्ति के नामांकन में लगभग 15 मिनट का समय लगता है।

इस मौके पर मुख्य सचिव राकेश मेहता ने कहा कि सामाजिक सुविधा संगम कल्याण योजनाओं को बेहद गरीब लोगों तक पहुंचाने में अहम भूमिका निभा रहा है। दिल्ली में प्राधिकरण के पंजीयनों ने बेघर लोगों के बायोमीट्रिक नामांकन का काम शुरू किया है। 35 हजार बेघर लोगों का सर्वे किया जा रहा है। प्राधिकरण के महानिदेशक आरएस शर्मा सामाजिक सुविधा संगम की निदेशक रश्मि सिंह व अन्य गणमान्य व्यक्ति भी समारोह में मौजूद थे।

राजधानी में आसमान के नीचे गुजरती हैं 62 हजार लोगों की रातें

नई दिल्ली(एसएनबी)। दिल्ली में 62 हजार लोग ऐसे हैं जिनके पास रहने के लिए मकान नहीं हैं और उनकी रातें खुले आसमान के नीचे गुजरती हैं। मिशन कन्वर्जन्स के तहत हुए एक सर्वे में यह तथ्य पता चला है। मुख्य सचिव राकेश मेहता ने कहा है कि सरकार कल्याणकारी योजनाओं को और अधिक प्रभावी बनाएगी तथा विभिन्न विभागों द्वारा चलाई जा रही 40 से अधिक योजनाओं में कुछ परिवर्तन किया जाएगा।

> मिशन कन्वर्जन्स के तहत सरकार कल्याणकारी योजनाओं को बनाएगी प्रभावी

मुख्य सचिव राकेश मेहता ने बुधवार को पत्रकारों से वार्ता करते हुए जनकल्याण के लिए शुरू सामाजिक सुविधा संगम व मिशन कन्वर्जन्स के बारे में विस्तार से जानकारी दी। उन्होंने कहा कि मिशन कन्वर्जन्स के तहत ही राजधानी में सिंगल विंडो सिस्टम की शुरुआत की गई है। विभिन्न स्थानों पर खोले गये जेन्डर रिसार्स सेंटर इसी की कड़ी हैं।

उन्होंने बताया कि समाज के कल्याण की योजनाओं का क्रिन्यावयन मिशन कन्वर्जन के तहत किया जा रहा है और अब सरकार योजनाओं को अधिक प्रभावी बनाने का प्रयास कर रही है। इसके तहत अलग-अलग विभागों द्वारा चलाई जा रही 40 से अधिक योजनाओं में कुछ फेरबदल किया जा रहा है ताकि सभी योजनाओं की निगरानी की जा सके। उन्होंने बताया कि छह योजनाओं को बंद कर दिया गया है।

उन्होंने कहा कि सरकार की योजनाओं का लाभ कितने लोगों को मिल रहा है इसका आकलन करने के लिए सरकार एक पारिवारिक विकास सूची भी तैयार कर रही है। उन्होंने बताया कि सरकार ने गरीबों और वंचितों को एक छत के नीचे विभिन्न सेवाएं और सुविधाएं मुहैया कराने के लिए वर्ष 2008 में मिशन कन्वर्जन्स योजना की शुरुआत की थी। इसके तहत 120 सामाजिक सुविधा केन्द्र बनाये हैं जहां जरूरतमंदों को सेवाएं मुहैया करायी जाती हैं। उन्होंने बताया कि सरकार के इस कार्यक्रम को इस कार्यकम को कामनवेल्थ लोक प्रशासन और प्रबंधन संगठन द्वारा माल्टा में आयोजित वार्षिक बैठक में दो स्वर्ण पदक दिये गये थे।

प्रसंगवश

अंजलि सिन्हा

आश्रयस्थलों की जिम्मेदारी

समाज में आश्रयस्थलों का निर्माण आवश्यकता होती है क्योंकि हर समाज में कुछ लोगों को सहारे की जरूरत पड़ती है। सवाल यह तय करने का है कि सरकार की ओर से उनका संचालन किस रूप में हो? उसे कारोबार के अन्य हिस्सों की तरह देखा जाए या सरकार खुद इसे अपनी जिम्मेदारी समझ इनका सुचारू रूप से संचालन करे। सरकार की ओर से चलाये जाने वाले किसी भी आश्रयस्थल का संचालन निश्चित ही कारोबार का हिस्सा नहीं हो सकता तथा वह इनकी जिम्मेदारी किसी निजी या स्वयंसेवी संगठन के कंधों पर डाल अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकती है। दिल्ली सरकार ने कम समय में ही इस गलती का एहसास कर उसे सुधारने का कदम उठाया है। कुछ समय पहले सरकार ने कैबिनेट की बैठक में फैसला लिया था कि द्वारका और बिन्दापुर में बने दो नये आश्रयस्थलों की देखरेख एनजीओ को सौंपी जाएगी तथा वहां रहने वाले प्रति व्यक्ति के हिसाब से भुगतान होगा लेकिन समाज कल्याण मंत्री ने इस पर आपत्ति जता दी। शायद इसी कारण सरकार फैसले पर फिर से विचार कर रही है।

यदि इस मुद्दे पर ठीक से विचार विमर्श कर सरकार ऐसा नीतिगत फैसला लेती है कि इस तरह के आश्रय स्थल सरकार द्वारा ही चलाये जाने चाहिए तो वह अन्य सभी कमजोर वर्गों के लिए चलने वाले आश्रयस्थलों पर भी लागू होगा। जब-जब इन आश्रयगृहों में फैली अव्यवस्था, बदइंतजामी और भ्रष्टाचार का मामला उजागर होता है तब-तब उसे निजी हाथों या फिर किसी स्वयंसेवी संस्था के हाथों सौंपने की बात होती है। किसी व्यवस्था को निजी हाथों में सौंपना एक बात है जो सरकार को अपनी जिम्मेदारी उठाने से मुक्त करता है लेकिन सिर्फ निगरानी की चुस्त व्यवस्था करना भले वह निजी या स्वयंसेवी संस्थाओ की समितियां करें, दूसरी बात है। यानी इसमें प्रबन्धन और निगरानी का अन्तर है। याद करें इसी साल के शुरू में आशाकिरण होम, जो मानसिक रूप से कमजोर बच्चों का सरकारी आश्रय गृह है, में जब एक के बाद एक कई बच्चे मौत का शिकार होते गये तो सरकार ने जांच समिति बनायी और उसी के बाद प्रस्तावित नये आश्रयगृहों के काम में तेजी लायी गयी।

सरकारी नारी निकेतनों में आश्रय ले चुकीं महिलाओं का अनुभव भी अच्छा नहीं है। उनके मुताबिक वह भी एक जेल ही है। कई वृद्धाश्रम अब निजी व्यवसाय के तौर पर चल रहे हैं। जो जितना खर्च करेगा, उतनी सुविधा पायेगा। यह इन्तजाम विकल्प रूप में तो चल सकता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सरकारी वृद्धाश्रमों की ओर सरकार का कोई ध्यान न हो।

तीसरा महत्वपूर्ण पहलू यह कि किसी भी तरह से यह काम कल्याण या सेवा की मानसिकता से नहीं चलना चाहिए। सरकारी आश्रयगृह में किसी भी असहाय या वृद्ध को नागरिक अधिकार के तौर पर जगह मिले न कि दानखाते के रूप मे। अनेक संस्थाओं को सरकारें जो राशि अनुदान के रूप में बांट देती हैं, आखिर वह जनता का ही पैसा होता है। कॉरपोरेट जगत को भी ऐसी राशि सरकारी खाते में ही दान करना चाहिए ताकि सरकार द्वारा वह लोगों तक उनके हक के रूप में पहुंच सके। सरकारें यदि लोगों के पैसे को दानखाते में स्वयंसेवी संस्थाओं को आवंटित करती रहेगी तो वह जिम्मेदारी से पलायन है। आखिर सरकारी आश्रयगृहों की बदहाली से मुक्ति के उपाय क्यों नही तलाशे जा सकते हैं ? जब एम्स जैसे अस्पताल या केन्द्रीय विश्वविद्यालय या इतने बड़े कल्याण मंत्रालय को चलाने का तरीका निकाला जा सकता है तो कल्याण के काम के लिए चुस्त तरीका क्यों नहीं बन सकता। उनकी निगरानी का बहुस्तरीय तन्त्र विकसित किया जाना चाहिए तथा जरा सी चूक या लापरवाही की सजा भी तय हो ताकि किसी प्रकार की अव्यवस्था न फैलने पाए।

टूट रही चुप्पी

सदियों से मैला उठाने वाला समाज अब आवाज उठाना चाहता है

दो टूक
योगेंद्र यादव
समाज
edit@amarujala.com

खचाखच भरे मावलंकर हॉल में मंच पर एक बच्ची खेल रही थी। पहले ही मंच की चकाचौंध में कुरसी पर बैठने से अकबकाई उसकी मां बेटी को फुसलाने की कोशिश कर रही थी। लेकिन बेटी मां की गोद में बैठने के बजाय रोशनी के स्रोत की तरफ भाग रही थी। प्रोजेक्टर के सामने खड़े होने से उसकी परछाई मंच के पीछे स्क्रीन पर फैल रही थी।

पता नहीं क्यों, उस दो-ढाई साल की बच्ची की बेलौस अदाओं में मुझे सामाजिक न्याय आंदोलन के भविष्य की तसवीर दिखाई दी। मानो इस आंदोलन को अब सत्ता की गोद में उपेक्षित बच्चे की तरह बैठना कुबूल नहीं है। मानो सदियों से मैला उठाने वाला समाज अब टोकरी नहीं, आवाज उठाना चाहता है, हाथ में झाड़ू नहीं, किताब लेना चाहता है, सीवर में नहीं, इस देश के अंतर्मन में उतरकर इसकी आत्मा पर जमी मैल को धो देना चाहता है।

सुदूर तमिलनाडु के पुदुकोट्टई से इस लड़की का दिल्ली तक आना छोटी बात नहीं है। आजाद भारत में कदाचित पहली बार देश भर के सफाई कर्मचारी समाज के प्रतिनिधि कन्याकुमारी, श्रीनगर, देहरादून, डिब्रूगढ़ और खुर्दा-से यात्राएं निकालते हुए दिल्ली दरबार में दस्तक देने आए थे।

उस बच्ची का नाम सत्या था। पता नहीं. बड़ी होकर वह नाम के आगे क्या लिखेगी। शायद इस पूरे समाज की तरह गुमनाम रहना पसंद करे। यह समाज आज भी दूसरों के दिए नामों से पहचाना जाता है। गांधी जी द्वारा दिया नाम 'हरिजन' खारिज हो चुका है। यह समाज 'दलित' है, लेकिन सिर्फ 'दलित' नहीं। 'महादलित' शब्द अभी प्रचलित नहीं है। 'वाल्मीकि' या 'स्वच्छकार' नामकरण की कोशिशें जारी हैं। जिसका नाम नहीं हो, दिल्ली दरबार उसकी पहचान नहीं करता। इस ऐतिहासिक सम्मलेन में दलित समाज के नाम पर दुकान चलाने वाले ज्यादातर नेता, अफसर और मंत्री नदारद थे। बस राष्ट्रीय सलाहकार परिषद के सदस्य हर्ष मंदर, अरुणा रॉय और ज्यां द्रेज, राज्यसभा के सदस्य प्रोफेसर मुन्गेकर तथा डी राजा, कुछेक सहृदय बुद्धिजीवी और पत्रकार ही मौजूद थे।

राष्ट्रमंडल खेल को इज्जत मानने वाले नीति-नियंताओं के लिए सफाई कर्मचारी इज्जत का मामला नहीं है!

बच्ची की मां मंच पर इसलिए थी कि उसने टोकरी छोड़ दी थी। सामाजिक परिवर्तन यात्रा का मुख्य उद्देश्य देश से मैला प्रथा का उन्मूलन था। शुष्क शौचालय को गैरकानूनी बनाने वाला कानून पास हुए सत्तरह साल बीत चुके हैं। लेकिन आज भी कई लाख लोग सिर पर मैला उठाने को अभिशप्त हैं। इस पर सर्वोच्च न्यायालय सवाल कर रहा है, तो राज्य सरकारें झूठे हलफनामे दायर कर रही हैं। राष्ट्रमंडल खेलों को देश की इज्जत का सवाल मानकर उसमें हजारों करोड़ रुपये फूंकने वाली सरकार के लिए यह इज्जत का सवाल नहीं है। इस संबंध में यह यात्रा आगे का रास्ता दिखाती है। सरकार के झूठे वायदों पर उम्मीद करने के बजाय अब इस समाज ने खुद यह प्रथा खत्म करने की ठान ली है, इस संदर्भ मे 31 दिसंबर को समयसीमा तय कर ली गई है।

मां ने तो टोकरी छोड़ दी, लेकिन बड़ी होकर सत्या क्या करेगी? स्वच्छकार समाज की चुनौती सिर्फ टोकरी छोड़ने तक सीमित नहीं है। इस नए पड़ाव पर अब वह शिक्षा और रोजगार का सवाल उठा रहा है। इस समुदाय में कॉलेज जानेवाले विद्यार्थियों की संख्या नगण्य है। जम्मू-कश्मीर में आज भी पंजाब से आए वाल्मीकि समाज के सफाई कर्मचारियों के स्नातक बच्चों के लिए सफाई कर्मचारी के सिवा दूसरी सरकारी नौकरी में पाबंदी है। बाकी जगह यह बंदिश कानून नहीं, समाज बांधता है। सफाई के काम में तो शत-प्रतिशत आरक्षण है, लेकिन बाकी नौकरियों में न के बराबर।

अब तो निजीकरण के चलते म्यूनिसिपैलिटी की नौकरी पर भी ठेकेदार की तलवार लटक रही है। सीवर साफ करने वाला काम आज भी इस अमानवीय दशा में होता है कि जान का खतरा हमेशा बना रहता है। कहने को अन्य सरकारी नौकरियों में आरक्षण है, लेकिन शिक्षा के अभाव में इस समुदाय को आरक्षण का लाभ नहीं मिलता।

जो हाल सरकारी नौकरी में है, उससे बुरा हाल राजनीति में है। अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित सीटों पर इस समाज के प्रतिनिधि कहीं दिखाई नहीं देते। आजादी के बाद से कांग्रेस से बंधे इस समाज को कांग्रेस ने ही सबसे अधिक नजर अंदाज किया है। दूसरी पार्टियों के दलित सेल पर भी चंद सक्षम दलित जातियों का कब्जा है। बसपा भी इसका अपवाद नहीं। इसलिए अनुसूचित जाति के प्रतिनिधि दलितों में दलित की आवाज उठाने के बजाय अगड़े समुदाय के स्वार्थ के प्रतिनिधि बन जाते हैं। मुख्यधारा की राजनीति के बाहर आज इस समाज के पास बेज्वाड़ा विल्सन और दर्शन रत्न रावण जैसे नेता हैं।

टोकरी और नौकरी से भी बड़ा सवाल है इज्जत का। जिस मंच पर सत्या खेल रही थी, उस पर बड़े अक्षरों में लिखा था, चुप्पी तोड़ो। भगवान दास, ओम प्रकाश वाल्मीकि और सुशीला टांकभौरे की परंपरा मे नए लेखक भी तैयार हो रहे हैं। पंजाब से आई युवा कवयित्री नीलम दिसावर अपने समाज की महिलाओं के दर्द को जुबान दे रही थी, *जिस देश में गंगा बहती है, उस देश में औरत सहती है।* हॉल में बैठे लोग सिर उठाने के अंजाम से अनजान नहीं थे। गोहाना और मिर्चपुर के अग्निकांड की घटनाएं पुरानी नहीं हुई हैं। इन दोनों घटनाओं में सरकार आज भी दबंग जाति के अपराधियों को बचाने पर तुली है।

सम्मलेन स्थल में चारों और डॉ. अंबेडकर की तसवीरें थीं। हर होंठ पर 'जय भीम' का नारा था। न जाने क्यों, कंप्यूटर प्रोजेक्टर की रोशनी में चमकती सत्या की दो आंखों में मुझे सत्याग्रह की दो छवियां दिखाई दीं। एक आंख में बाबा साहब अंबेडकर का आक्रोश, दूसरी में महात्मा गांधी की करुणा।

मैला उठाने की प्रथा पर नए वादे

अलका आर्य
लेखिका स्वतंत्र पत्रकार हैं।

देश में हाथ से मैला उठाने पर पूर्ण रोक की मांग इस बार किसी गैर-सरकारी संगठन ने नहीं, बल्कि यूपीए अध्यक्ष सोनिया गांधी की अगुवाई वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने की है। यूपीए अध्यक्ष सोनिया गांधी की अध्यक्षता में हुई राष्ट्रीय सलाहकार परिषद (एनएसी) की जिस बैठक में देश की 75 फीसदी आबादी को प्रस्तावित खाद्य सुरक्षा कानून के तहत सस्ते दर पर अनाज मुहैया कराने की सिफारिश केंद्र सरकार से की गई, उसी बैठक में एनएसी ने केंद्र सरकार को हाथ से मैला उठाने वाली शर्मनाक प्रथा पर 11वीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक पूरी तरह से रोक लगाने की सलाह दी है। परिषद ने केंद्र सरकार से कहा है कि इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए केंद्र को राज्य व स्थानीय प्रशासन और केंद्र सरकार के रेलवे समेत सभी विभागों से तालमेल बैठाना होगा। हर राज्य व संघशासित क्षेत्रों में ऐसे नए सर्वेक्षण कराने की जरूरत होगी, जि अधिक से अधिक लोगों की भागीदारी हो। शुष्क शौचालयों व हाथ से मैला उठाने वालों की सही संख्या का पता लगाना बहुत ही जरूरी है। इसके साथ ही उन्हें इस अमानवीय पेशे से मुक्ति दिला कर उनके व उनके परिवार के सामाजिक पुनर्वास के अलावा जीविका संबंधी पुनर्वास में बाजार आधारित आधुनिक हुनर के प्रशिक्षण पर फोकस करना होगा। उनके सभी बच्चों के लिए उच्च शिक्षा व कंप्यूटर शिक्षा संबंधी कार्यक्रम शुरू करने का सुझाव भी दिया गया।

बैठक में कहा गया कि हाथ से मैला उठाने को 17 साल पूर्व गैर-कानूनी करार देने के बावजूद यह प्रथा जारी है। लिहाजा सफाई कर्मचारी नियोजन व शुष्क शौचालय सन्निर्माण (प्रतिरोध) अधिनियम 1993 में संशोधन कर इस काम की परिभाषा को और व्यापक

बनाने के साथ ही प्रथा पर पूरी तरह से रोक लगाने के लिए अधिकारियों की भी जिम्मेदारी तय की जाए। अगर संबंधित अधिकारी अपने इलाके में ऐसी गतिविधियां नहीं रोक पाता है तो उसके खिलाफ कार्रवाई सुनिश्चित की जानी चाहिए।

राष्ट्रीय सलाहकार परिषद की बैठक में हाथ से मैला उठाने की प्रथा पर चर्चा का अपना महत्व है। तो क्या इस बात पर भरोसा किया जाए कि केंद्र सरकार इस मसले को अब गंभीरतापूर्वक लेगी। कानून का कड़ाई से पालन होगा और उल्लंघन करने वाले को सजा दी जाएगी। पुनर्वास नीतियों के क्रियान्वयन में जमीनी दिक्कतों को दूर करने में अधिकारियों को खास तौर पर संवेदनशील व जवाबदेह बनाया जाएगा। क्या केंद्र सरकार हर बार की तरह इस बार हाथ से मैला उठाने वाली प्रथा के उन्मूलन की समय सीमा नहीं बढ़ाएगी? क्या 11वीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक यानी 2012 में देश इस कलंक से मुक्ति पा लेगा? सामाजिक ढांचे में सबसे निचले पायदान की बाल्मीकि जाति जिसका पेशा मैला उठाना माना गया है, को आजादी के 63 साल बाद भी इस घिनौने पेशे से पूरी तरह से मुक्ति क्यों नहीं मिली, इस सवाल के जवाब में राज्य जो भी सफाई दे, मगर उसकी नाकामी की सामाजिक-आर्थिक कीमत सबसे ज्यादा बाल्मीकि जाति के लोग ही चुका रहे हैं। सफाई कर्मचारी आंदोलन नामक संस्था के अनुसार देश में इस समय तीन लाख से अधिक लोग हाथ से मैला उठाने का काम करते हैं।

यह स्थिति तब है, जबकि 1993 में इस प्रथा के उन्मूलन के लिए शुष्क शौचालय सन्निर्माण (प्रतिरोध) अधिनियम लागू किया गया। इस अधिनियम के तहत शुष्क शौचालय का इस्तेमाल करने वाले को एक साल की कैद या दो हजार का जुर्माना अथवा दोनों हो सकते हैं। लेकिन विडंबना यह है कि इस अधिनियम के तहत आज तक किसी को सजा नहीं हुई है। केंद्र सरकार व राज्य सरकारों के कई विभाग इस अधिनियम का उल्लंघन करते हुए मैला उठाने वालों को इस काम के लिए भर्ती करते हैं। रेलवे मंत्रालय भी इस सूची में शामिल है। आज भी रेल के डिब्बों में खुले बहाव वाले शौचालय हैं। कई नगरपालिकाओं में भी शुष्क शौचालयों का इस्तेमाल जारी है। यूं तो 2003 में सर्वोच्च अदालत ने देश के सभी राज्यों को मैला ढोने वालों की स्थिति की बाबत शपथ पत्र जमा कराने के दिशानिर्देश दिए थे और उत्तर प्रदेश सरकार ने माना था कि उसके यहां यह प्रथा जारी है। अधिकांश राज्यों ने झूठ बोलते हुए इसके अस्तित्व से ही इनकार कर दिया। जहां तक पुनर्वास नीतियों का सवाल है तो संतोषप्रद नतीजे देखने को नहीं मिले। एक रपट के मुताबिक अंबाला प्रशासन ने जिन मैला ढोने वालों के पुनर्वास के नाम पर बतौर सफाई कर्मचारी नियुक्ति की थी, उन्हें काम से निकाल दिया।

ऐसे कामों को कलंक से मुक्ति दिलाने के लिए भर्ती के पैटर्न व नीतियों में बदलाव करने की जरूरत है। राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने देश में हाथ से मैला उठाने की प्रथा पर पूर्ण रोक लगाने के लिए जो सुझाव दिए हैं, उस पर अमल कब व कितनी ईमानदारी से होगा, यह सवाल महत्वपूर्ण है।

alkaarya2001@gmail.com

परिवर्तन की पहल

राज वाल्मीकि

दुनिया मेरे आगे

सड़कों पर दौड़ने वाली बसें हमारे लिए कोई नई बात नहीं हैं। लेकिन वे पांच बसें न आम थीं और न उनके यात्री। दरअसल, उन बसों में सवार यात्री एक नया इतिहास लिख रहे थे। बैनरों पर बड़े-बड़े अक्षरों में 'सामाजिक परिवर्तन यात्रा' लिखा था, जिसका उपशीर्षक था 'भारत से मैला प्रथा का उन्मूलन।' जम्मू-कश्मीर, कन्याकुमारी, असम, ओड़ीशा और उत्तराखंड जैसे राज्यों से दिल्ली के गंतव्य वाले इस सफर के मार्गों के नाम जिस तरह आंबेडकर, पेरियार, बिरसा मुंडा, झलकारी बाई, सावित्री बाई जैसी ऐतिहासिक हस्तियों के नाम पर रखे गए थे, वह अपने आप में बहुत कुछ बता जाता है। सामाजिक बदलाव के लिए मैला प्रथा के उन्मूलन को एकमात्र रास्ता बताने वाले नारे उन यात्रियों के संघर्ष के संकल्प के बयान थे जो अपनी गरिमा, समानता और मानवीय व्यक्तित्व को हासिल करने के सपने से उपजे थे। उनमें एक नारा सबसे ज्यादा ध्यान खींच रहा था जिसमें लिखा था- 'तीन हजार साल से शोषित सफाई कर्मचारी समुदाय से सरकार माफी मांगे।'

यह मांग शायद उस चेतना से जन्मी थी जिसमें अब अहसास हो गया है कि मानव मल उठाने को एक समूचे समुदाय का पेशा बना देने के सामाजिक अपराध के पीछे राजनीतिक सत्ताओं की कितनी भूमिका रही होगी। बसों में सवार लगभग सभी यात्री पहले मानव मल ढोने का काम करते थे। उनमें ज्यादातर महिलाएं थीं। जब मैंने उन सबके माथे पर नीले रंग के रिबन पर लिखे 'एक्शन- 2010' का मतलब पूछा तो एक महिला ने बताया कि आज राष्ट्रीय स्तर का बन चुके इस 'सफाई कर्मचारी आंदोलन' का जन्म पच्चीस साल पहले आंध्र प्रदेश में हुआ था। हमने 2007 में एक रणनीति बनाई थी जिसका मकसद इस साल के आखिर तक भारत से मैला प्रथा का उन्मूलन है। इसे ही 'एक्शन- 2010' का नाम दिया गया है।

जो महिला मुझे यह बता रही थी उसकी भाषा और लहजे से लगा कि वह शिक्षित है। पूछने पर उसने बताया कि दस साल पहले मैं अनपढ़ ही थी और मैला ढोती थी। इस आंदोलन के संपर्क ने मुझे इससे मुक्ति दिलाई और पढ़ाई-लिखाई का रास्ता भी बताया। आज मैं भीमराव आंबेडकर के लेख पढ़ती हूं और खुद इस आंदोलन की कार्यकर्ता हूं। अब मैं मैला ढोने वाले दूसरे लोगों को गरिमामय जीवन का मतलब बताती हूं और उस काम को छोड़ कर दूसरे सम्मानजनक पेशे अपनाने के लिए प्रोत्साहित करती हूं।

हालत इससे समझी जा सकती है कि जब ये कार्यकर्ता जिला कलेक्टरों के पास जाकर अधिनियम- 1993 के तहत पुनर्वास की मांग करते हैं तो अधिकतर जिला कलेक्टरों का जवाब होता है कि उन्हें इस कानून की जानकारी नहीं है। मैला ढोने की प्रथा और शुष्क शौचालय निर्माण से संबंधित कानून के बारे में भी वे अनभिज्ञता जाहिर करते हैं। उन्हें यह भी मालूम नहीं कि कानूनों के तहत मैला ढुलाई का काम करवाना एक दंडनीय अपराध है, जिसके लिए सजा एक साल जेल या दो हजार रुपए जुर्माना या दोनों है। इस पेशे में लगे लोगों को यह काम छुड़वा कर इज्जतदार पेशे के लिए आर्थिक सहयोग का भी प्रावधान है। इसलिए मुझे उनकी यह मांग गलत नहीं लगी कि जो कलेक्टर जान-बूझ कर इस कानून की अनदेखी करते हैं, उन्हें भी सजा दी जाए। यह सामाजिक परिवर्तन यात्रा फिलहाल देश के बीस राज्यों के एक सौ साठ जिलों में निकाली गई थी।

इस बात से शायद ही कोई संवेदनशील व्यक्ति असहमत हो कि आज इक्कीसवीं सदी में भी इस अमानवीय प्रथा का जारी रहना किसी सभ्य समाज और देश के लिए शर्म की बात है। मैला ढोने की प्रथा कोई पेशा नहीं, बल्कि एक तरह की हिंसा है इस काम में लगे लोगों पर। इसे कोई भी खुशी से नहीं अपनाता। तथाकथित समाज-व्यवस्था के नाम पर जारी इस प्रथा ने सदियों से इंसानों के ही एक समूह को इंसानों का मल-मूत्र ढोने के पेशे में लगा दिया और जानवरों से भी बदतर जीवन जीने के लिए मजबूर कर दिया। विडंबना यह है कि आजाद भारत में भी इस अन्याय और अत्याचार पर कानूनी प्रतिबंध लगाने की पहल 1993 में एक अधिनियम बना कर की गई। लेकिन आज भी यह थोपी गई प्रथा जारी है तो समझा जा सकता है कि हमारे यहां मानवीय गरिमा, समानता, सम्मान, न्याय और मानवाधिकारों की क्या स्थिति है। आजादी के छह दशकों के बाद भी अगर एक समुदाय को इनकी बहाली के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है तो एक तरह से यह हमारे सभ्य माने जाने वाले समाज को आईना दिखाता है। जो पहल समाज के बुद्धिजीवियों को बहुत पहले करनी चाहिए थी, उसके लिए खुद पीड़ित वर्ग को आगे आना पड़ा है। इसमें बहुत देर होने की वजह भी शायद यही है।

मानवाधिकार की चेतना का विस्तार और विरोध

मानवाधिकार दिवस

अनिल चमड़िया

भूमंडलीकरण की नीतियां लागू होने के बाद दुनिया भर में मानवाधिकारों को लेकर नई तरह की बातें होने लगीं। उससे पहले के दौर में जहां विभिन्न देशों की सरकारों पर मानवाधिकार की सुरक्षा के लिए कानून बनाने और अपनी मशीनरी चुस्त करने का दबाव होता था, वहीं सरकारें मानवाधिकार विरोधी विचारों को फैलाने और कानून बनाने में सक्रिय हो गईं। अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों के भी दोहरे चेहरे खुलकर सामने आए। मानवाधिकार आज विभिन्न राजनीतिक हितों से भरे एक मुद्दे के रूप में दिखाई देने लगा है

मानवाधिकार ऐसे अधिकार हैं, जो किसी भी व्यक्ति को इंसान होने की हैसियत के कारण मिलते हैं। खासकर दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पूरी दुनिया में यह जरूरत महसूस की गयी कि किसी भी देश की सरकार कानूनों के जरिये यह सुनिश्चित करे कि वह किसी भी हालत में हर एक इंसान को ऐसे अधिकार मुहैया कराएगी जो मानवीय गरिमा और न्याय के अनुरूप हों। दरअसल उस युद्ध के दौरान पुलिस और सैनिकों ने बड़े पैमाने पर क्रूरता की सारी हदें पार कर दी थी और मानव समाज इस तरह की हिंसा के कारण बड़े असुरक्षा बोध में जी रहा था। इसी पृष्ठभूमि में मानव जीवन की स्वाभाविकता लौटाने के लिए दुनिया के स्तर पर मानवाधिकार को सुनिश्चत करने के लिए कदम उठाए गए।

दस दिसम्बर को संयुक्तराष्ट्र की आम सभा ने मानवाधिकारों को नये सिरे से परिभाषित किया और 48 देशों ने इसके पक्ष में मत दिया। विरोध हालांकि किसी ने नहीं किया लेकिन आठ देश ऐसे थे, जिन्होंने तटस्थ भूमिका निभायी यानी न पक्ष में मत किया और न विरोध किया। यहीं से मानवाधिकारों को लेकर विभिन्न तरह के राजनीतिक दृष्टिकोण की बहस भी तेज हो गई।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी आंदोलन के दौरान मानवाधिकार आंदोलन की शुरुआत हुई। उदाहरण के तौर पर एक जुलाई 1921 को धारवाड़ में अंग्रेज अधिकारियों ने जब भीड़ पर गोलियां चलाई थीं तब कांग्रेस की कार्यसमिति द्वारा नागपुर के असहयोगी वकील भवानी शंकर नियोगी (जो बाद में मध्य प्रांतीय हाईकोर्ट के जज बने), बड़ौदा के अवकाश प्राप्त जज अब्बास तय्यब जी तथा मैसूर में जज रहे श्री सेटलूर की एक संयुक्त जांच समिति बनाई गई थी। पंजाब में सरकारी ज्यादतियों, गैरकानूनी कार्रवाईयों और निर्दयता की जांच के लिए राजा नरेन्द्र नाथ की अध्यक्षता में भी एक समिति बनाई गई थी। इसी आंदोलन के विकास के रूप में कांग्रेस ने 31 दिसंबर 1929 को लाहौर में एक प्रस्ताव में कहा कि हमारा विश्वास है कि किसी भी देश की जनता की भांति भारत की जनता का यह अनुल्लंघनीय अधिकार है कि वह स्वतंत्र हो और अपने परिश्रम का फल चखे और जीवन की सभी आवश्यकताएं उसे उपलब्ध हों ताकि उसे विकास करने के सारे अवसर प्राप्त हों। यदि कोई सरकार जनता को इन अधिकारों से वंचित करती है और उन्हें सताती है तो जनता को उसे बदल देने या हटा देने का अधिकार है। इसी आलोक में 1931 में कांग्रेस ने मौलिक अधिकार संबंधी प्रस्ताव पारित किया। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था इन्हीं आंदोलनों की मान्यता के रूप में की गई।

आजादी के बाद मानवाधिकार की स्थितियां उलट गईं। जय प्रकाश नारायण जैसे मनीषी अंग्रेजो राज और आजादी के बाद कांग्रेस सरकारों के दौरान राज्य मशीनरी द्वारा मानवाधिकार उल्लंघन के भुक्तभोगी रहे हैं। 1956 तक जेपी ने देश में हुई विभिन्न मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाओं को लेकर अपनी चिंता जाहिर की और उसके खिलाफ आंदोलनों का भी नेतृत्व किया। लेकिन उन्हें सत्तर के दशक में यह तेजी से अनुभव हुआ कि जिस तरह से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियां जटिल हो रही हैं, वैसे हालात में राज्य मशीनरी द्वारा दमन और मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाओं में तेजी आएगी। 1972 में उन्होंने वीएम तारकुंडे को मानवाधिकार आंदोलन खड़ा करने के बावत बातचीत के लिए आमंत्रित किया। आखिरकार 1974 के अप्रैल माह में दिल्ली स्थित गांधी शांति प्रतिष्ठान में एक बड़ा सम्मेलन हुआ। जेपी उसके पहले अध्यक्ष हुए और वीएम तारकुंडे को कार्यकारी अध्यक्ष बनाया गया। पीयूसीएलडीआर बाद में दो संगठनों पीयूसीएल और पीयूडीआर के रूप में विस्तारित हुआ।

जेपी जब मानवाधिकार आंदोलन संगठित करने की शुरुआत कर रहे थे, उस समय उन्होंने कहा था कि अब इस तरह के और कई संगठन बनेंगे और यह लोकतंत्र के लिए अच्छा है। जब राष्ट्रीय स्तर का मानवाधिकार संगठन बना, तब पुलिस द्वारा नागरिकों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को पकड़कर मार डालने की घटनाएं तेजी से हो रही थी। तब जेपी ने आंध्रप्रदेश में मुठभेड़ के नाम पर हत्याओं की घटनाओं की जांच के लिए एक कमेटी बनाने का सुझाव दिया। इसके अलावा चुनाव में सुधार जैसे मुद्दों को लेकर भी कमेटियां बनायी गईं। नक्सलियों के रास्ते को लेकर मतभेद जरूर थे। लेकिन यह किसी विचारधारा या पार्टी का नहीं, बल्कि कानून सम्मत राज की स्थापना से जुड़ा प्रश्न था। तारकुंडे ने बताया था कि 1980 के आसपास एक अमेरिकी संस्था के महासचिव ने उनसे कहा कि वे संगठन के लिए पैसा देना चाहते हैं लेकिन उन्होंने साफ तौर पर इनकार कर दिया। उनका विश्वास था कि मानवाधिकार आंदोलन काम और कार्यकर्ताओं के बूते ही जिंदा रह सकता है।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तेज होने के बाद तत्कालीन गृहमंत्री एस बी चव्हाण के कार्यकाल में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन किया गया। जेपी ने मानवाधिकार आंदोलन तेज करने के लिए संगठन बनाने के बारे में सोचा और भूमंडलीकरण की नीतियों को जारी रखने वालों ने आंदोलनों की स्थितियों को मोड़ देने के लिए ऐसे आयोग की परिकल्पना तैयार कर रखी थी। भूमंडलीकरण की नीतियां लागू होने के दौरान मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाओं में तेजी से इजाफा होने की आशंका जाहिर की जा रही थी।

भूमंडलीकरण की नीतियां लागू होने के बाद दुनिया भर में मानवाधिकारों को लेकर नई तरह की बातें दिखाई दीं। उससे पहले के दौर में जहां विभिन्न देशों की सरकारों पर मानवाधिकार की सुरक्षा के लिए कानून बनाने और अपनी मशीनरी चुस्त करने का दबाव होता था, वहीं सरकारें मानवाधिकार विरोधी विचारों को फैलाने और कानून बनाने में सक्रिय हो गईं। लोगों के लिए यह तय कर पाना मुश्किल हो गया कि सरकारें मानवाधिकारों का उल्लंघन करने के लिए आतंकवाद और हिंसा के बढ़ने का बहाना बना रही है या फिर आतंकवाद खत्म करने के लिए सरकार के सामने मानवाधिकारों के उल्लंघन की विवशता पैदा हो रही है। कई देशों ने अपने यहां मानवाधिकार को लेकर संवेदनशीलता दिखाने की कोशिश की तो दूसरे देशों ने मानवाधिकारों की कुचलने में अपनी सेनाएं झोंक दी। नये तरह के प्रश्न खड़े किए गए। क्या पुलिस और सेना के जवानों का मानवाधिकार नहीं होता? जिन्हें आतंकवादी या हिंसक गतिविधियों में शामिल होने का आरोप लगाकर पकड़ा गया, उनके मानवाधिकारों के प्रति लोगों को राष्ट्रवाद और विकास के नाम पर जबरन चुप कराने की सांगठनिक कोशिश देखी गई। उन पर हमले किए गए। आरोपितों को पकड़कर मार डालने की स्वीकृति दी जाने लगी। फिल्में और टेलीविजन यानी लगभग सारे माध्यम उसी तरह के विचारों को बढ़ाने में मददगार हुए। नौबत यहां तक पहुंची कि आरोपित की न्यायालयों तक में पैरवी करने वाले वकीलों को भी नहीं बख्शा गया। अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संगठनों के भी दोहरे चेहरे खुलकर सामने आए। मानवाधिकार आज विभिन्न राजनीतिक हितों से भरे एक मुद्दे के रूप में दिखाई देने लगा है।

एक भूख हड़ताल के दस साल

सुभाष गाताडे

अक्टूबर के आखिरी दिन मणिपुर की राजधानी इंफाल की सड़कों पर अखिल मणिपुर रिक्शाचालक एवं रेहड़ीचालक कल्याण संघ (ऑल मणिपुर रिक्शा ड्राइवर्स एंड पुलर्स वेलफेयर एसोसिएशन) की अगुवाई में एक विशाल रैली का आयोजन किया गया। रैली में शामिल लोगों की तादाद इतनी अधिक थी कि समूचे इंफाल की सड़कों पर कई घंटों तक यातायात बाधित रहा। रैली की अगुवाई मणिपुर की जुझारू महिलाओं के संगठन 'मीरा पेबीस' अर्थात 'मशाल थामे औरत' के पांच सदस्यों ने की। न तो इस रैली का आयोजन इन चालकों की अपनी किन्हीं निजी मांगों के लिए हुआ था और न ही किसी बड़ी सियासी पार्टी ने इस अभूतपूर्व रैली के लिए अपना समर्थन दिया था। दरअसल, सड़कों पर उतरे लाखों लोग इंफाल शहर के ही एक कोने में बने जवाहरलाल नेहरू अस्पताल के कमरे में (जिसे उपजेल घोषित किया गया है) बंद मणिपुर की महान कवयित्री इरोम शर्मिला के हक में अपनी आवाज बुलंद करने वहां एकजुट हुए थे। वही इरोम, जिसकी दस साल से चल रही हड़ताल अब एक जीते-जागते मिथक के रूप में शुमार की जा रही है।

जुलूस की अगुवाई कर रही नेत्रियों ने इस बात का भी एलान किया कि 2 नवंबर यानी आज, जबकि इस हड़ताल के दस साल पूरे हो रहे हैं, तब से एक सप्ताह तक मणिपुर में अलग-अलग स्थानों पर कार्यक्रमों का सिलसिला चलेगा और इरोम के लगातार गिरते स्वास्थ्य के मद्देनजर सरकार पर यह दबाव बनाया जाएगा कि वह कुख्यात आर्म्ड फोर्सेस स्पेशल पॉवर्स एक्ट वापस ले। मालूम हो कि यह अकेले मणिपुर का किस्सा नहीं है। जुलाई के आखिर में देश भर के तमाम सामाजिक-राजनीतिक संगठनों ने अपनी साझा बैठक कर इस बात का एलान किया था कि वे देश भर में इस मुहिम को चलाएंगे। पिछले साल भी जबकि इरोम की हड़ताल दसवें वर्ष में प्रवेश कर रही थी, तब भी नवंबर में मुल्क के तमाम शहरों-नगरों में छोटे-बड़े सैकड़ों कार्यक्रम हुए थे। किसी ने इरोम शर्मिला के जीवन पर बनी या मणिपुर के ताजा हालात को बयां करती फिल्म दिखाई, कहीं लोग भूख हड़ताल पर बैठे तो कहीं लोगों ने मोमबत्तियां जला कर अपना समर्थन जाहिर किया।

इरोम ने कहा था, 'मेरी भूख हड़ताल मणिपुर की जनता की तरफ से है। यह सच्चाई, प्यार और अमन का प्रतीक है।' देखना होगा कि इरोम ने 'सच्चाई, प्यार और अमन' के लिए जो लौ जलाई है, क्या शेष हिन्दोस्तां के लोग उसे थाम लेंगे या चुपचाप बुझने देंगे।

आखिर ऐसी क्या बात है कि इरोम शर्मिला ने पिछले दस साल से भूख हड़ताल जारी रखी है और उन्हें सुरक्षा बलों के पहरे में जबरन नली के जरिए कुछ खिलाया जाता है? दरअसल, 2 नवंबर, 2000 की बात है जब मणिपुर की राजधानी इंफाल से लगभग 15-16 किलोमीटर दूर मालोम बस स्टैंड पर सुरक्षा बलों द्वारा अंधाधुंध गोली चलाने से दस निरपराध लोगों की मौत हुई थी। इरोम शर्मिला उस वक्त मालोम में ही एक बैठक में थी, जो एक शांति रैली के आयोजन के लिए बुलाई गई थी। अगले दिन के अखबारों के पहले पन्ने पर मारे गए लोगों की तस्वीरें थीं। इरोम को उस वक्त लगा कि ऐसी परिस्थिति में शांति रैली का आयोजन बेमानी साबित होगा और उसने वही निर्णय लिया कि 'जिंदगी की सरहद पर जाकर ऐसा कुछ किया जाए' ताकि सुरक्षा बलों की यह ज्यादती रुके।

वैसे यह कोई पहला वाकया नहीं था, जब मणिपुर या उत्तर-पूर्व की सड़कें मासूम लोगों के खून से लाल हुई थीं, लेकिन इरोम को लगा कि अब सर पर से पानी गुजरने को है। लिहाजा उन्होंने उसी दिन से एलान कर दिया था कि आज से वे खाना छोड़ रही हैं। उनकी बस एक ही मांग है कि मणिपुर की सरजमीं पर पिछले 52 साल से लागू कुख्यात कानून आफ्सपा को हटा दिया जाए, जिसके तहत सुरक्षा बलों को असीमित अधिकार दिए गए हैं। इरोम के ऐतिहासिक सत्याग्रह को मणिपुर की महिलाओं की जुझारू परंपरा की अगली कड़ी के रूप में देखा जा रहा है- वही मीरा पेबीस, जिसका सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन का सौ साल से अधिक पुराना इतिहास है। अगर अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष में भी वह आगे थीं, तो आजादी के बाद सामाजिक सुधार एवं मानवाधिकारों की रक्षा के लिए भी वह लगातार सक्रिय रही हैं। थंगजाम मनोरमा के बलात्कार एवं बाद में उसकी शहादत के बाद इंसाफ की मांग करते हुए जो व्यापक आंदोलन चला था, उसमें भी मीरा पेबीस की अगुवाई में महिलाओं की भूमिका पर विशेष चर्चा हुई थी। 15 जुलाई, 2004 को असम राइफल्स के इलाकाई मुख्यालय के सामने सूबे की चंद प्रतिष्ठित एवं बुजुर्ग महिलाओं ने निर्वस्त्र होकर प्रदर्शन किया था। वे अपने साथ जो बैनर लाई थीं उस पर लिखा था: 'भारतीय सेना, आओ हम पर बलात्कार करो', 'भारतीय सैनिकों आओ हमारा मांस नोचो'।

पिछले साल बीबीसी के संवाददाता के साथ बात करते हुए इरोम ने कहा था, 'मेरी भूख हड़ताल मणिपुर की जनता की तरफ से है। यह कोई व्यक्तिगत लड़ाई नहीं है- यह प्रतीकात्मक है। वह सच्चाई, प्यार और अमन का प्रतीक है।' देखना यह होगा कि इरोम ने 'सच्चाई, प्यार और अमन' के लिए जो लौ जलाई है, क्या शेष हिन्दोस्तां के लोग उसे थाम लेंगे या चुपचाप बुझने देंगे।

अकेले शर्मिला की नहीं है यह तकलीफ!

अंजनी कुमार लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं।

क्या देश में लोकतंत्र का अर्थ एकता-अखंडता रह गया है? क्या यह कॉरपोरेट जगत का लोकतंत्र है जो जन की भागीदारी को लगातार हाशिए पर डाले रहेगा और राज्य व राष्ट्रीयताओं को अपनी लूट की परियोजनाओं का शिकार बनाता रहेगा?

ऐसा लगता है कि इरोम शर्मिला, मणिपुर की जनता व सैन्य बल विशेष अधिकार अधिनियम, 1958 (आफ्सपा) के साये तले जी रहे अन्य राज्यों की जनता की तकलीफों का अंत फिलहाल नहीं होने जा रहा है। कॉरपोरेट जगत के घिनौने खेल व घोटालों को लेकर उठे संसदीय हंगामे के बीच कैबिनेट ने उपरोक्त अधिनियम को मणिपुर के चुने हुए क्षेत्रों में बनाए रखने के लिए एक बार फिर दिसंबर की पहली सुबह की खबर के अनुसार सालं भर की अवधि तक बढ़ाने के प्रस्ताव को पारित कर दिया। मानो यह महज एक औपचारिकता थी, जिसे पूरा कर आगे बढ़ा दिया गया। इस तरह इरोम शर्मिला के प्रतिरोध की उस पूरी ताकत को दरकिनार कर दिया गया, जिसके बल पर उन्होंने एक तकलीफदेह रास्ते को अख्तियार किया है। इस औपचारिकता के तहत उन सारी आकांक्षाओं को भी दरकिनार कर दिया गया, जिसकी खातिर कश्मीर से लेकर उत्तर-पूर्व के जन बार-बार विद्रोह व संघर्ष की राह चुनने के लिए बाध्य हो रहे हैं।

इरोम शर्मिला आफ्सपा के खिलाफ लगातार प्रतिरोध करने के जिस निर्णय पर अडिग खड़ी हुई, उसकी जमीन काफी मजबूत रही है। यदि हम भारतीय लोकतंत्र की मजबूत नींव की असलियत में झांक कर देखें, तो वहां दरके हुए वे फांके दिखाई देंगे जिनके भीतर से न्यूनतम मानवाधिकार की गुहार सुनाई देगी। वहां वे लोग दिखाई देंगे, जिनकी पीठ पर कॉरपोरेट जगत की लूट का एक तंत्र खड़ा है जो अब खुले रूप में राज कर रहा है। अंबानी के शब्दों में, यह 'अपनी ही दुकानदारी है'। और वे राजनीतिक षडयंत्र भी दिखाई देंगे, जिनके नीचे लोकतंत्र के सिद्धांत व उसकी नैतिकता का दम घुटता गया है।

आफ्सपा के आने से पहले 1955 में असम को 'अशांत' क्षेत्र घोषित कर असम अशांत क्षेत्र अधिनियम, 1955 लागू किया गया था। इसके बाद उत्तर-पूर्व के उस समय बने दो राज्यों असम व मणिपुर को 1958 में पुनः अशांत क्षेत्र घोषित कर इन्हें एक विशेष अधिनियम के तहत लाया गया। उस समय यह सैन्य बल (असम व मणिपुर) विशेष अधिकार अधिनियम, 1958 के नाम से संसद में पारित हुआ। अन्य राज्यों के बनने के साथ ही इसे 1972 में संशोधित कर, नाम में थोड़ी तब्दीली कर इसके क्षेत्र को विस्तारित कर दिया गया। ज्ञात हो कि इस अधिनियम के तहत सेना व प्रशासन को यह अधिकार हासिल हो जाता है कि वह मनमानी गिरफ्तारी कर सकता है व संदेह के आधार पर किसी को भी गोली मार सकता है। विशेष न्यायालय के तहत न्याय की धज्जियां उड़ा सकता है। नतीजे के बतौर खुद सरकार की रिपोर्ट के अनुसार 2005 तक मणिपुर में 8000 नागरिक मारे जा चुके थे। इसमें कथित उग्रवादियों की संख्या शामिल नहीं है। बलात्कार, यातना, लूट इत्यादि रोजमर्रा की घटनाएं हैं। यदि इसमें नगालैंड, असम, मिजोरम और कश्मीर में हुई हत्याओं, बलात्कार, यातना और लूट की संख्या को जोड़ दिया जाए, तो एक भयावह तस्वीर उभरती है जो लोकतंत्र व जनवाद के न्यूनतम मूल्यों से मेल नहीं खाती।

यहां यह बात ध्यान देने लायक है कि देश की एकता-अखंडता के नाम पर कुछ और कानून, अध्यादेश व अधिनियम भी पारित होते रहे हैं। इनमें एनएसए, मीसा, टाडा, पोटा-पोटो, यूएपीए और इसी तरह के राज्याधीन कानूनों को जोड़ दिया जाए तो हम उस अलोकतांत्रिक व्यवहार के सिलसिले को पा सकते हैं जिसे देश की जनता पर लगातार लादे रखा गया। इन सारे कानूनों-अध्यादेशों का प्रयोग 12 साल के बच्चे से लेकर 80 साल तक के बुजुर्ग पर आजमाया गया। इसके साये तले राष्ट्रीयताओं, अल्पसंख्यकों, दलितों, आदिवासियों, कम्युनिस्टों, नक्सलियों, मजदूरों, किसानों, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, गांधीवादियों, यहां तक कि एनजीओ कर्मियों तक को दमन-उत्पीड़न व हत्याओं का शिकार बनाया गया। ऐसे में यह सवाल बनता है कि क्या देश में लोकतंत्र का अर्थ एकता-अखंडता रह गया है? क्या यह कॉरपोरेट जगत का लोकतंत्र है जो जन की भागीदारी को लगातार हाशिए पर डाले रहेगा और राज्य व राष्ट्रीयताओं को अपनी लूट की परियोजनाओं का शिकार बनाता रहेगा?

इन्हीं सवालों से इरोम शर्मिला की तकलीफ जुड़ी हुई है। यह देश के बहुसंख्य लोगों व समूहों की भी तकलीफ है। इस तकलीफ को संसद ने जिस तरह से दरकिनार कर दिया, उसका निहितार्थ लोकतंत्र के पक्ष में तो कतई नहीं है।

anjani.dost@yahoo.co.in

राजद्रोह में उम्रकैद

माओवादियों के साथ साठगांठ के दोषी

रायपुर। सामाजिक कार्यकर्ता विनायक सेन, नक्सल विचारक नारायण सान्याल और कोलकाता के कारोबारी पीयूष गुहा को शुक्रवार को राजद्रोह का दोषी करार देते हुए उन्हें उम्रकैद की सजा सुनाई गई। तीनों पर माओवादियों के साथ साठगांठ करने का आरोप था।

नारायण सान्याल और कारोबारी पीयूष गुहा को भी आजीवन कारावास की सजा

अतिरिक्त जिला और सत्र न्यायाधीश बीपी वर्मा ने तीनों को भारतीय दंड संहिता की धारा 124ए (राजद्रोह) और 120बी (षड्यंत्र) तथा छत्तीसगढ़ विशेष लोक सुरक्षा कानून के तहत दोषी ठहराया। 58 वर्षीय डॉक्टर और पीपुल्स यूनियन आफ सिविल लिबर्टीज के उपाध्यक्ष सेन पर आरोप था कि उन्होंने जेल में बंद सान्याल के संदेश वाहक के तौर पर काम किया और सान्याल के संदेश और पत्र भूमिगत माओवादियों तक पहुंचाए। सेन को 14 मई 2007 को बिलासपुर में गिरफ्तार किया गया था और पिछले साल मई में सुप्रीम कोर्ट से जमानत मिलने के पहले वह दो साल तक जेल में रहे।

सान्याल को आंध्र प्रदेश के खम्मम में जनवरी 2006 में गिरफ्तार किया गया था जबकि गुहा को एक साल बाद मई में गिरफ्तार किया गया था। दोनों उस समय से जेल में हैं। अभियोजन पक्ष का आरोप है कि वे नेटवर्क स्थापित करने में माओवादियों की मदद कर रहे थे। सेन के वकील महेंद्र दुबे ने कहा कि वे फैसले के खिलाफ अपील करेंगे। तीनों आरोपियों को राजद्रोह में उम्रकैद की सजा के अलावा छत्तीसगढ़ विशेष लोक सुरक्षा कानून के तहत दो साल की सजा सुनाई गई और एक हजार रुपये का जुर्माना भी किया गया। तीनों को गैरकानूनी गतिविधियां निवारण कानून के तहत भी दोषी ठहराया गया और उन्हें पांच साल की सजा सुनाई गई और एक एक हजार रुपये का जुर्माना किया गया। एजेंसी

बिनायक को सजा, कानून का हास्यास्पद इस्तेमाल: अमर्त्य सेन

नई दिल्ली/कोलकाता, 28 दिसंबर (भाषा)। बिनायक सेन को रिहा कराने के लिए चलाए जा रहे अभियान को अपना समर्थन देते हुए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अमर्त्य सेन ने कहा कि मानवाधिकार कार्यकर्ता को राजद्रोह का दोषी ठहराना कानून का हास्यास्पद इस्तेमाल है। इस बीच बिनायक की मां ने कहा है कि वे बेटे की रिहाई के लिए हाई कोर्ट का दरवाजा खटखटाएंगी। देश के वयोवृद्ध अधिवक्ता राम जेठमलानी ने बिनायक सेन मामले में पैरवी करने की पेशकश की है।

अमर्त्य सेन ने उम्मीद जताई कि सुप्रीम कोर्ट कार्यकर्ता को राहत देगा। बिनायक को दोषी ठहराए जाने से नाराज अमर्त्य ने कहा कि इस मामले में कानून की गंभीर निष्फलता सामने आई है। इसकी जानकारी आम आदमी के साथ-साथ अदालत को भी देनी चाहिए। अमर्त्य ने दैनिक टेलीग्राफ से कहा, "यही कारण है कि मैंने इस मामले में बयान दिया क्योंकि मैं इससे क्षुब्ध और आक्रोशित हूं। मुझे लग रहा है कि अनुचित व्यवहार किया गया है।" उन्होंने कहा कि छत्तीसगढ़ की अदालत का फैसला हमारी न्याय प्रणाली, विशेषतौर पर राजद्रोह संबंधी कानूनों की व्यापक विकृति है। अमर्त्य ने कहा, "यह भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है कि जिस बात के लिए उन्हें दोषी करार दिया गया है, पत्रों को दूसरों को पहुंचाना, क्या उस बात को भी भली प्रकार साबित किया गया है।"

इस बीच बिनायक सेन की बीमार मां ने कहा है कि वह अदालत के फैसले के खिलाफ हाई कोर्ट जाएंगी। जरूरत पड़ने पर वे बेटे को निर्दोष साबित करने के लिए सुप्रीम कोर्ट भी जाएंगी। बिनायक की 84 साल की मां अनसुया सेन ने कहा कि वह अपने बेटे को जमानत दिलाने के लिए जनवरी की शुरुआत में हाई कोर्ट का दरवाजा खटखटाएंगी। उन्होंने उम्मीद जताई कि बिनायक सेन रिहा हो जाएंगे। उन्होंने कहा, "मेरा बेटा पूरी तरह निर्दोष है। वह छत्तीसगढ़ में गरीब लोगों की बेहतरी के लिए काम करता है। इसके लिए उसे वैश्विक रूप से प्रतिष्ठित 'जोनाथन मान' पुरस्कार भी मिल चुका है। वे बिनायक सेन की रिहाई के लिए राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या कांग्रेस अध्यक्ष को भी पत्र लिखने की तैयारी में हैं। वहीं कांग्रेस के वरिष्ठ नेता दिग्विजय सिंह ने कहा है कि बिनायक सेन को देशद्रोह के आरोपों में निचली अदालत द्वारा सुनाई गई आजीवन कारावास की सजा के फैसले की समीक्षा की जानी चाहिए।

आरटीआई के पांच साल

गिरीश रंजन तिवारी

बीच बहस में

भारत में सूचना का अधिकार कानून (आरटीआई) को पांच वर्ष पूरे हो गए हैं। 2005 में आज ही के दिन यह कानून जम्मू-कश्मीर को छोड़कर पूरे देश में लागू किया गया था। इस अल्प अवधि में यह कानून जन-जन में कितना लोकप्रिय हो गया है, इसका अंदाज इस बात से लगाया जा सकता है कि इस कानून की जानकारी अब निरक्षर लोगों को भी है। जबकि दहेज निरोधी, बाल श्रम, अश्लील विज्ञापनों और चमत्कारिक औषधि एवं उपचार का दावा करने वाले विज्ञापनों पर रोक लगाने संबंधी तमाम महत्वपूर्ण कानून दशकों से अस्तित्व में होने के बावजूद अधिकांश लोग या तो इनके बारे में जानते ही नहीं या इनकी परवाह नहीं करते। सूचना के अधिकार कानून की जानकारी न केवल आम लोगों को है, बल्कि सरकारी कर्मचारियों को इसका डर भी है। पांच वर्ष की अवधि में यह बड़ी उपलब्धि है। यह देश का इकलौता कानून है, जिसके खिलाफ देश के सुप्रीम कोर्ट को हाई कोर्ट में अपील करने की नौबत आ गई। उससे भी बड़ी बात यह कि हाई कोर्ट ने सुप्रीम कोर्ट की याचिका खारिज करने का उदाहरण प्रस्तुत किया। साल दर साल इसका प्रयोग करने वालों की बढ़ती तादाद इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

आज विश्व के लगभग 85 देशों में यह कानून लागू है और तमाम दूसरे देश भी इसे लागू करने की प्रक्रिया में है। अपनी जानकारियां गोपनीय रखने के लिए आयरन कर्टेन पॉलिसी पर अमल करने वाले चीन के अलावा बांग्लादेश और पाकिस्तान सहित पिछड़े माने जाने वाले चिली और युगांडा तक में लोगों को सूचना हासिल करने का कानूनी अधिकार प्राप्त है। हमारे देश में यद्यपि यह कानून जम्मू-कश्मीर में लागू नहीं था, लेकिन वहां के मुख्यमंत्री उमर अब्दुल्ला ने इसकी लोकप्रियता देखते हुए इसे राज्य में लागू करने की पहल की।

सूचना के अधिकार का कानून विश्व में सर्वप्रथम स्वीडन में लागू हुआ था। लेकिन यह कहना गलत नहीं होगा कि विश्व को सूचना के अधिकार की राह भारत ने ही दिखाई थी। सर्वश्रेष्ठ राज्य व्यवस्था का उदाहरण रामराज्य माना जाता है। रामराज्य की एक बड़ी विशेषता यह थी कि एक धोबी राजा से उनके निजी जीवन संबंधी सवाल तक कर सका और राजा ने न केवल उसकी शंका का समाधान किया, बल्कि उसके लिए अकल्पनीय त्याग भी कर दिखाया। सूचना के अधिकार कानून का इससे बड़ा उदाहरण दूसरा नहीं हो सकता। लेकिन बाद में भी, आज से लगभग चार-पांच शताब्दी पूर्व विशेषकर मुगलकाल में तमाम शासकों ने अपने महल के बाहर घंटा लटकाने की प्रथा अपनाई थी, जिसे बजाकर एक आम आदमी राजा तक अपनी बात पहुंचा सकता था। अनेक दृष्टांत ऐसे भी हैं, जब भेष बदलकर जनता की समस्याएं सुनने के लिए स्वयं राजा जाया करते थे। हिंदू धर्मग्रंथों में विशेष रूप से एक ऐसे पात्र नारद की परिकल्पना की गई है, जिसका कार्य ही किसी पीड़ित की समस्या को संबंधित अधिकारी तक पहुंचाने का है, जो इसका निदान करने में सक्षम हो। कदाचित् ये व्यवस्थाएं आरटीआई से भी एक कदम आगे की थीं।

इस कानून के कारण भ्रष्टाचार के गंभीर मामले उजागर हुए हैं और इसके भय से सरकारी कर्मचारी गलत काम करने से कतराने लगे हैं, कार्यों में पारदर्शिता तो आई ही है। इस कानून का सहारा केवल पढ़े-लिखे जागरूक लोग ही नहीं ले रहे, बल्कि वंचित वर्ग के लोग भी इसमें पीछे नहीं हैं। पंजाब के नवां शहर में एक अंधे व गरीब व्यक्ति सतपाल सिंह बैरसियां ने आरटीआई के जरिये प्रशासन को कठघरे में खड़ा कर दिया। समझा जा सकता है कि पढ़े-लिखे जागरूक लोग इससे समाज में क्या सुधार नहीं ला सकते! हालत यह है कि दूसरे तमाम कानून जब प्रभावी नहीं हुए तो उन्हें भी इसकी मदद से लागू कराने के अनेक उदाहरण सामने आए हैं। इसीलिए अमेरिका जैसे विकसित देश में इस कानून को देश के सर्वश्रेष्ठ कानून का दर्जा प्राप्त है और इसे सनशाइन कानून कहा जाता है। वहां किसी भी तरह की सरकारी जानकारी को फोन पर भी प्राप्त किया जा सकता है।

फिलहाल यह माना जा सकता है कि आने वाले समय में सूचना के अधिकार के इस कानून की मदद से बेहतर समाज की स्थापना में और महत्वपूर्ण योगदान मिलेगा और भविष्य में निश्चय ही यह कानून लोकतंत्र का पांचवां स्तंभ बनेगा।

आरटीआई को मिली पांच साल बाद पहचान

अमर उजाला ब्यूरो

नई दिल्ली। रुपयों के बाद सरकार ने सूचना के अधिकार (आरटीआई) कानून को भी पहचान चिन्ह से लैस कर दिया है। मगर आम आदमी के सबसे अहम हथियार आरटीआई को अपनी यह विशिष्ट पहचान हासिल करने में पांच साल लग गए। इस कानून के लागू होने की पांचवीं सालगिरह के मौके पर इसका आकर्षक लोगो ही नहीं आरटीआई को लोकप्रिय बनाने के लिए नए पोर्टल की शुरुआत भी की गई है।

कार्मिक तथा लोक शिकायत एवं पेंशन मामलों के राज्यमंत्री पृथ्वी राज चव्हाण ने बृहस्पतिवार को आरटीआई लोगो तथा पोर्टल का शुभारंभ किया। लोगो को कागज पर सरल और प्रतीकात्मक रूप से उकेरा गया है तथा सूचना मुहैया कराते हुए लोक सेवक को दर्शाया गया है। लोगो का आकार-प्रकार सहज और आसानी से याद रखने वाला है। इस मौके पर चव्हाण ने कहा कि विगत पांच वर्षों में आरटीआई के जरिए पारदर्शिता और जवाबदेही की नई शुरुआत हुई है और इससे देश के लोकतांत्रिक ढांचे को मजबूती मिली है। आम जनता के सशक्तिकरण में इस कानून ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आरटीआई लोगो अब सभी सरकारी दफ्तरों पर प्रदर्शित होगा तथा इसका उपयोग आरटीआई संबंधी संवादों में होगा। आरटीआई पोर्टल की शुरुआत एक तरह से इस कानून के जरिए सूचना पाने के इच्छुक लोगों के लिए ज्ञानकेंद्र का काम करेगा।

RIGHT TO INFORMATION

कानून की कुछ और खास बातें

इस कानून में साफ-साफ लिखा है कि किसी भी नागरिक से सूचना मांगने का कारण नहीं पूछा जाएगा

- यदि कोई लोक सूचना अधिकारी यह पाता है कि मांगी गई सूचना का संबंध उसके विभाग से नहीं है तो यह उसकी जिम्मेदारी है कि वह पांच दिन के अंदर आवेदन को संबंधित विभाग के पास भेजे तथा इसके बारे में आवेदक को भी सूचित करे।
- कुछ मामलों में लोक सूचना अधिकारी सूचना देने से मना कर सकता है। इनका उल्लेख कानून की धारा 8 में किया गया है।
- लेकिन यदि मांगी हुई सूचना जनहित में है तो धारा 8 में मना की गई सूचना में से भी अधिकतर उपलब्ध कराई जाएंगी। इसी तरह यदि मांगी सूचना बीस साल से पहले की है तो धारा 8 में मना होने के बावजूद अधिकतर मामलों में वह भी उपलब्ध कराई जाएगी।
- संबंधित कानून के अनुसार जिस सूचना को संसद या किसी विधानसभा को देने से मना नहीं किया जा सकता, ऐसी सूचना अथवा जानकारी को किसी व्यक्ति को भी देने से मना नहीं किया जाएगा।

इस तरह जमा होगा आवेदन

सूचना के अधिकार अधिनियम 2005 के तहत सूचना मांगने के लिए आवेदन का इस्तेमाल बेहद आसान है। इसके लिए -

- आवेदन एक सादे कागज पर तैयार कर दिया जा सकता है।
- जिस विभाग से जानकारी लेनी है, आवेदन उसी विभाग केह लोक सूचना अधिकारी के नाम से बनेगा। आम तौर पर जिला स्तर पर हर एक विभाग में लोक सूचना अधिकारी होते हैं।
- अगर किसी विभाग में लोक सूचना अधिकारी के बारे में पता नहीं चल पा रहा है तो आवेदन उस विभाग के मुखिया के पास (लोक सूचना अधिकारी केयर/ऑफ...) भी भेजा सकता है।
- आवेदन के साथ आवेदन शुल्क भी देना होता है। यह आवेदन शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट या पोस्टल ऑर्डर के जरिये दिया जा सकता है।
- केंद्र सरकार और उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, बिहार, मध्य प्रदेश सहित अधिकतर राज्यों में आवेदन शुल्क दस रुपये है। हरियाणा में यह पचास रुपये है। गरीबी रेखा से नीचे के नागरिकों से कहीं भी कोई आवेदन फीस नहीं ली जाती है।
- आवेदन व्यक्तिगत रूप से लोक सूचना अधिकारी के पास जमा कराया जा सकता है अथवा (रजिस्टर्ड) डाक द्वारा भी भेजा जा सकता है।
- अगर आपने कुछ दस्तावेजों की छायाप्रति मांगी है तो बाद में उसके लिए छायाप्रति मांगी है तो बाद में उसके लिए छायाप्रति शुल्क भी देना होगा जो सूचना उपलब्ध कराते वक्त लिया जाता है। अधिकतर राज्यों में यह शुल्क 2 रुपये प्रति पृष्ठ है लेकिन हरियाणा में यह 10 रुपये प्रति पृष्ठ है।

30 दिन में सूचना न मिले तो...

इस कानून के तहत कोई सूचना मांगने का आवेदन दाखिल करने के बाद तय सीमा में सही जवाब नहीं मिलता है तो इसके लिए कानून में आगे की प्रक्रिया भी स्पष्ट है। वह है-

- अगर लोक सूचना अधिकारी की ओर से कोई जवाब ही न मिले तो कानून के मुताबिक यह मान लिया जाएगा कि लोक सूचना अधिकारी ने सूचना देने से मना कर दिया है। ऐसी स्थिति में उसके खिलाफ सीधे सूचना आयोग में शिकायत की जा सकती है।
- अगर सूचना अधिकारी ने कोई जवाब दिया है लेकिन उससे आप संतुष्ट नहीं हैं तो इसके खिलाफ अपील करनी होगी।
- पहली अपील प्रथम अपील अधिकारी के पास की जाती है। हर एक विभाग में लोक सूचना अधिकारी की ही तरह प्रथम अपील अधिकारी भी बनाए गए हैं। पहली अपील सूचना 'नकारने' की समय सीमा खत्म होने के 30 दिन के अंदर की जाती है।
- प्रथम अपील अधिकारी के पास से भी अगर 30 दिन में कोई कार्रवाई नहीं होती है अथवा की गई कार्रवाई से आप संतुष्ट नहीं है तो दूसरी अपील करनी होगी।
- दूसरी अपील सूचना आयोग में की जाती है। अगर आप किसी राज्य सरकार के विभाग से सूचना मांग रहे हैं तो उस राज्य की राजधानी में स्थित राज्य सूचना आयोग में अपील की जाएगी। सूचना केंद्र सरकार के किसी विभाग से मांगी है तो दूसरी अपील दिल्ली स्थित केंद्रीय सूचना आयोग में की जाएगी। दूसरी अपील, पहली अपील दाखिल करने के 120 दिन के अंदर दाखिल की जा सकती है।
- अपील में अपने आवेदन डालने से लेकर अपील दाखिल करने तक के घटनाक्रम को सिलसिलेवार तरीके से दस्तावेजों की प्रतियों सहित भेजा जाता है।
- सूचना के अधिकार के तहत मांगी गई सूचनाओं को अस्वीकार करने, अपूर्ण या भ्रम में डालने वाली अथवा गलत सूचना देने और अधिक फीस मांगने के खिलाफ भी सूचना आयोग में शिकायत की जा सकती है।

कानून बदनाम करने की कोशिशें भी

'बेतुके आवेदन' का शब्द नौकरशाही में बेहद स्वार्थी और भ्रष्ट तत्वों द्वारा चलाया गया है। कोई भी आवेदन बेतुका कैसे हो सकता है। किसी के लिए पानी का कनेक्शन उसकी बहुत बड़ी समस्या हो सकती है। ऐसे में अधिकारी इसकी बाबत अर्जी को बेतुका कैसे मान सकते हैं

इसमें कोई राय नहीं कि आरटीआई कानून ने देश के आम आदमी को एक बड़ी ताकत उपलब्ध कराई है। इसलिए आज एक दिहाड़ी मजदूर भी हाकिमों से सवाल खड़े कर रहा है और पूछ रहा है कि आखिर तुमने हमारे लिए किया ही क्या है? इस कानून की बदौलत पहली बार आम आदमी की हैसियत शासित होने वाली रियाया से ऊपर उठी है। शायद यही अधिकारियों को नागवार गुजर रहा है। विशेषकर भ्रष्ट और गलत प्रकृति वाले अधिकारियों ने इस कानून को लेकर कुछ कुतर्क गढ़े हैं और इस कानून को बदनाम करने में लगे हैं। ये कुतर्क ही आज इस कानून को लागू होने में सबसे बड़ी समस्या है। कुछ प्रचलित कुतर्क और उनके जवाब इस तरह हैं।

- इस कानून का इस्तेमाल लोग 'ब्लैकमेलिंग' के लिए कर रहे हैं।

ध्यान दें - सूचना का अधिकार केवल सचाई सामने लाता है। यह सचाई से पर्दा हटाता है। सरकार के भीतर चल रही गड़बड़ी जनता के सामने आनी ही चाहिए। अगर किसी अधिकारी ने कुछ गलत किया है तो हो सकता है कि उसे कोई ब्लैकमेल करे। लेकिन हम जनता के पैसे का दुरुपयोग करने वाले अधिकारी के साथ हमदर्दी क्यों रखें। इस कानून के तहत नियमों का पालन करने वाले किसी ईमानदार अधिकारी को कभी ब्लैकमेल नहीं किया जा सकता।

- लोग इतने आवेदन डाल रहे हैं कि सरकारी दफ्तरों में काम करना मुश्किल हो गया है।

ध्यान रहें - ये निराधार तर्क उन लोगों के हैं जो सरकारी दफ्तरों में काम नहीं करते या फालतू बैठकर तनख्वाह लेना चाहते हैं। अगर किसी सरकारी दफ्तर में जनता का काम ठीक से होगा तो भला सूचना के आवेदन डालने की आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी? जब तक किसी को जरूरत न हो, वह सूचना मांगने के लिए आवेदन नहीं करता। आंकड़े बताते हैं कि पिछले चार साल में केंद्र या राज्य के किसी भी दफ्तर का कामकाज सूचना अधिकारी के चलते ठप नहीं हुआ, उलटे सुधरा ही है।

- लोग 'बेतुके आवेदन' डालकर सरकार को परेशान कर रहे हैं।

ध्यान दें - 'बेतुके आवेदन' का शब्द नौकरशाही में बेहद स्वार्थी और भ्रष्ट तत्वों द्वारा चलाया गया है। कोई भी आवेदन बेतुका कैसे हो सकता है। किसी के लिए पानी का कनेक्शन उसकी बहुत बड़ी समस्या हो सकती है तो किसी के लिए सरकार की कोई नीति जानना बेहद जरूरी हो सकता है। पर अधिकारी इसे बेतुका कैसे मान सकते हैं? यदि नौकरशाहों को तथाकथित बेतुके आवेदनों को खारिज करने का अधिकार मिल जाएगा तो वे हर आवेदन को ऐसा ही बताकर खारिज करने लगेंगे।

RIGHT TO INFORMATION

जागोरी JAGORI

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें -

जागोरी बी-114 शिवालिक मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017, फ़ोनः 26691219, 26691220

email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org

www.jagori.org